श्रीविजयधर्मसूरिजैनग्रंथमाला-५

जैनधर्म

卐

लेखक—

मुनिराज श्रीविद्याविजयजी

•

वीर सं. २४६५ : धर्म सं. १७ : वि. सं. १९९५

०-४-०

प्रकाशक--

दीपचन्द बांठिया

मंत्री

श्रीविजयधर्मसूरिजैनग्रन्थमाला

छोटा सराफा, उज्जैन (मालवा)

●

हिन्दी

प्रथमावृत्ति १०००

द्वितीयावृत्ति २०००

गुजराती

प्रथमावृत्ति २०००

सिन्धी

प्रथमावृत्ति १०००

मुद्रक—

क्षेमशंकर मोहनलाल द्विवेदी

प्रभात प्रेस, डेन्सोहोल,

कराची.

●

जन्म कथा

सिन्ध में आने के बाद जैसे २ सिन्धी भाइयों- बहिनों का परिचय होता गया, वैसे २ यह मालूम हुआ कि— यद्यपि इनमें मांस और शराब का प्रचार बहुत है, तथापि इस सिन्ध की हिन्दुजाति में श्रद्धा, भक्ति और सरलता का गुण प्रशंसनीय है। इसके अतिरिक्त जिज्ञासा वृत्ति भी है। ऐसी प्रजा के आगे शुद्ध और निष्पक्ष ऐसे सत्यतत्त्व रक्खे जांय, तो यह प्रजा इसका आदर अवश्य करने लग जाय, और धीरे २ उसमें जो बुराइयां हैं, उसको भी दूर करे। इसी बात को मद्देनजर रख करके

व्याख्यानों द्वारा उपदेश प्रचार करने के साथ, सिन्धी भाषा में कुछ छोटी बड़ी पुस्तकें निकालने का आयोजन किया गया। सिन्धी में अनुवाद करने का कार्यभार हैदराबाद (सिन्ध) निवासिनी बहेन पार्वती सी. एडवानी बी. ए. ने अपने सिर लिया। अभी तक 'सच्चो साधु' 'सच्चो राहबर' 'अहिंसा' और 'फूलन मूठ' ये चार पुस्तकें निकाली गयी हैं, और उसका प्रचार होरहा है। अब 'जैनधर्म' की खास खास बातों से लोगों को परिचय कराने के लिए एक पुस्तक की आवश्यकता मालूम हुई। उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए यह पुस्तक हिन्दी में लिखी गयी है। यह है इस पुस्तक की जन्मकथा।

इसका सिन्धी और गुजराती अनुवाद भी छप गया है और अंग्रेजी अनुवाद होरहा है।

भारतीय धर्मों में 'जैनधर्म' का स्थान बहुत ऊँचा है। इसकी प्राचीनता और पवित्रता में अब किसी विद्वान् की शंका नहीं रही। जब तक जैनधर्म का मूल साहित्य संसार के सम्मुख नहीं आया था, तब तक लोग इस धर्म के लिये कुछ का कुछ कहते थे। कोई इसको ब्राह्मणधर्म के अन्तर्गत बताते थे, तो कोई छे नास्तिक दर्शनों में से एक दर्शन कहते थे। कोई इसको

बौद्धधर्म की शाखा बताते थे, तो कोई बौद्ध और जैन को एक समझते थे। कोई भगवान् महावीर का चलाया हुआ धर्म बताते थे, तो कोई पार्श्वनाथ का चलाया हुआ कहते थे। ऐसी अनेक कल्पनाएं लोग किया करते थे। परन्तु जब से जैनधर्म का अद्‍भुत साहित्य जगत् के सामने उपस्थित हुआ है, और ऐतिहासिक खोज कर्ताओं को इसकी अति प्राचीनता के प्रमाण मिले है, तबसे सबको यह स्वीकारना पड़ा है कि वास्तव में जैनधर्म अति प्राचीन, पवित्र, स्वतन्त्र और आस्तिक धर्म है।

जैनों के माने हुए चौबीस तीर्थंकरों में से कई तीर्थंकरों के नाम वेद में भी आते हैं, इससे स्पष्ट है कि- जैनधर्म वेदकाल से प्राचीन जरूर है। महाभारत में ऋषभावतार का वर्णन देखा गया, तब लोगों को स्वीकारना पड़ा कि जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में से पहले तीर्थंकर ऋषभदेव थे; जिनको लाखों, करोड़ों वर्ष हो चुके हैं। आजतक जितने प्राचीन शिलालेख किंवा अन्यान्य सामग्रियां मिली हैं, उस पर से भी विद्वानों को यह मान्य रखना पड़ा है कि- जैनधर्म अतिप्राचीन धर्म है।

जैनधर्म के मूलसिद्धान्तों के प्रकाशित होने से, जब जगत् को यह ज्ञात हुआ कि

बौद्धों के सिद्धान्तों में और जैनधर्म के सिद्धान्तों में बहुत अन्तर है, तब यह मानना पडा कि— जैनधर्म और बौद्धधर्म न एक है, और न जैन-धर्म बौद्धधर्म की शाखा है ।

इसी प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्तों में ईश्वर, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म आदि की मान्यताओं के देखने से पता चला कि-जैनदर्शन 'नास्तिकदर्शन' नहीं है । अन्त में जैनधर्म की प्राचीनता और पवित्रता के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों को, अपने जो ख्यालात थे वह बदलने पड़े हैं ।

जर्मनी के जगद्विख्यात डा. हर्मन जेकोबी ने लिखा है:—

"In conclusion let me assert my conviction that Jainism is an original system, quite distinct and independent from all others, and that, therefore it is of great importance for the study of Philosofical thought and religious life in ancient India" (Read in the congress of the History of Religions).

अर्थात्—अन्त में मुझे अपना निश्चय जाहिर करने दो कि 'जैनधर्म यह मूल धर्म है ।

सब दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। और स्वतंत्र है। प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान और धार्मिक जीवन के अभ्यास के लिये वह बहुत महत्त्व का है।'

लोकमान्य स्व. तिलक महाशय ने सन् १९०४ के दिसम्बर के 'केसरी' पत्र में लिखा है:—

"ग्रन्थों तथा सामाजिक व्याख्यानों से जाना जाता है कि-जैनधर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के दृढ सबूत हैं और निदान इस्वी सन से ५२६ वर्ष पहले का तो जैनधर्म सिद्ध ही है। महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये, इस बात को आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौधधर्म की स्थापना से पहले जैनधर्म फैल रहा था, यह बात विश्वास करने योग्य है। चौवीस तीर्थंकरों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है। बौद्धधर्म पीछे से हुआ, यह बात निश्चित है।'

इसी प्रकार इटालीयन विद्वान् डा. टेसीटोरी ने एक स्थान में कहा है:—

'जैनधर्म बहुत ही उंची पंक्ति का है।

इसके मुख्य तत्त्व विज्ञानशास्त्र के आधार पर रचे हुए हैं, ऐसा मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव है। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान आगे बढ़ता जाता है, जैनधर्म के सिद्धान्त को सिद्ध करता है।"

कहने का तात्पर्य कि— जैनधर्म प्राचीन, पवित्र और आस्तिक है, इसमें अब विद्वानों में दो मत नहीं रहे।

इतना होते हुए भी जैनधर्म के सिद्धान्तों से बहुत कम लोग परिचित हैं। यहां तक कि खुद जैनधर्म को मानने वाले जैनों में इसके मूलतत्त्वों का ज्ञान बहुत कम है। इसका यही कारण है कि सर्वसाधारण को उपयोगी हो सके, उस प्रकार का साहित्यसर्जन नहीं जैसा ही हुआ है। बालकों को भी जैनधर्म का मूल ज्ञान हो, इस प्रकार की पुस्तकों का अभाव है। और दूसरी तरफ से अजैन विद्वान् एवं सर्व साधारण लोग भी आसानी से जैनसिद्धान्त को समझ सके, ऐसी भिन्न २ भाषाओं में लिखी हुई पुस्तकों का अभाव है। मैंने यह पुस्तक इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख करके लिखी है।

इसके प्रारंभ में सामान्य विषय लिये गये हैं। धीरे २ अन्त में स्याद्वाद, नय और सप्तभंगी

जैसे कुछ कठिन विषय लिये गये हैं।

जैन सिद्धान्तों का खजाना इतना विशाल है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु प्रारंभ में बहुत कठीन विषय नहीं लेने का मेरा लक्ष्य था, और इसीलिये प्रमाण, निक्षेप, गुणस्थानक आदि कितने ही विषय छोड दिये गये हैं, जो संभवतः दूसरी पुस्तक में लिये जायेंगे।

इस पुस्तकका सिन्धी भाषा में अनुवाद कर देनेके लिये सुशीला बहेन पार्वती सी. एडवानी बी. ए. को तथा उस पुस्तकके प्रकाशित करनेमें आर्थिक सहायता करनेवाले राधनपुर निवासी सेठ कान्तिलाल बकोरदास इन दोनों के प्रति मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

कराची

फाल्गुन शु. ८ २४६५ —विद्याविजय

धर्म सं. १७

दुसरी आवृत्ति

'जैनधर्म' के मूल मूल सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त कराने में यह पुस्तक कितनी उपयोगी है, यह इस पर से ही प्रमाणित होता है कि-कुछ महीनों में ही इसकी प्रथमावृत्ति खतम होने से दूसरी आवृत्ति की दो हजार कापी निकालनी पडी है। इसका गुजराती और सिन्धी अनुवाद भी छपकर तैयार हो गया है और अंग्रेजी अनुवाद हो रहा है।

हमारी ग्रंथमाला की संस्कृ पुस्तकें

२	धर्मवियोगमाला	०—२—०
३	प्रमाणनयतत्त्वालोक	०-१४—०
८	जयन्त प्रबन्ध (गुजराती भा. युक्त)	०—३—०
१९	जैनो सप्तपदार्थी	०—५—०
२७	सुभाषितपद्यरत्नाकर भा. १ (गुजराती भा. युक्त)	१—४—०
३०	अर्हत् प्रवचन (गुजराती भा. युक्त)	०—५—०
३१	सुभाषितपद्यरत्नाकर भा. २ (गुजराती भा. युक्त)	१—४—०
३२	सुभाषितपद्यरत्नाकर भा. ३ (गुजराती भा. युक्त)	१—४—०
३६	श्रीहेमचन्द्रवचनामृत (गुजराती भा. युक्त)	०—८—०
३७	श्रीपर्वकथासंग्रह	०—४—०
३९	श्रीबारहव्रतकथा	०—८—०
४८	सुभाषित पद्यरत्नाकर भा. ५ (गुजराती भा. युक्त)	०-१०—०
	उत्तराध्ययनसूत्र—कमलसंयमी-टीका युक्त भा. ४	३—८—०
	प्रमाणनयतत्त्वालोक प्रस्तावना	०—३—०

मिलने का पता

श्री विजयधर्मसूरि जैन ग्रंथमाला

छोटा सराफा, उज्जैन (मालवा)

हमारी ग्रंथमाला की हिंदी, सिंधी व अंग्रेजी पुस्तकें.

४	श्रावकाचार	०—४—०
५	विजयधर्मसूरि के वचन कुसुम	०—४—०
७	सेइंग्झ ऑफ विजयधर्मसूरि (Sayings of Vijay Dharma Suri)	०—४—०
९	विजयधर्मसूरि अष्टप्रकारी पूजा	०—४—०
१६	एन आइडियलमंक-आदर्श साधु (An Ideal monk)	५—०—०
२१	ब्रह्मचर्य दिग्दर्शन	०—४—०
३३	मेरी मेवाड यात्रा	०—३—०
३४	वक्ता बनो	०—६—०
३८	उहिंसा	०—२—०
४१	सच्चो राहवर (सिंधी)	भेट
४२	वीर वंदन (कविता)	०—२—०
४३	अहिंसा (सिंधी)	भेट
४४	फुलनमुठ (सिंधी)	भेट
४७	जैनधर्म (हिन्दी)	०—४—०
५०	नयो ज्योती (सिंधी)	भेट
	आबू (७५ फोटू के साथ) हिन्दी	२—८—०

मिलने का पता.

श्री विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला
छोटा सराफा, उज्जैन (मालवा)

अमारी ग्रंथमालानां गुजराती पुस्तको

१	विजयधर्मसूरि-स्वर्गवास पछी	२—८—०
६	विजयधर्मसूरिनां वचनकुसुमो	०—४—०
१०	आबू. (७५ फोटा साथे)	२—८—०
११	विजयधर्मसूरि	०—२—०
१२	श्रावकाचार	०—३—०
१३	शाणीसुलसा	०—३—०
१४	समय ने ओळखो भा. २ जो	०—१०—०
१५	समय ने ओळखो भा. १ लो	०—१२—०
१७	सम्यकत्व प्रदीप	०—४—०
१८	विजयधर्मसूरि पूजा	०—४—०
२०	ब्रह्मचर्य दिग्दर्शन	०—४—०
२२	वक्ता बनो	०—६—०
२३	महाकवि शोभन अने तेमनी कृति	०—३—०
२४	ब्राह्मणवाडा	०—४—०
२५	जैनतत्त्वज्ञान	०—४—०
२६	द्रव्य प्रदीप	०—४—०
२८	धर्मोपदेश	०—६—०
२९	सप्तभंगी प्रदीप	०—४—०
३२	धर्म प्रदीप	०—४—०
४०	आबूलेखसंदोह	२—८—०
४५	विद्याविजयजीनां व्याख्यानो	०—८—०
४६	श्री हिमांशुविजयजीना लेखो	१—८—०

मळवानुं ठेकाणुं

श्री विजयधर्मसूरि जैन ग्रंथमाला

छोटा सराफा, उज्जैन (मालवा)

स्व. शास्त्र विशारद जैनाचार्य



श्रीविजयधर्मसूरि महाराज

A. M. A. S. B; H. M. A. S. I; H. M. G. O. S.

जैनधर्म

(खंड १)

—: १ :—

नवकार मंत्र

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमुक्कारो
सव्वपावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं
पढमं हवइ मंगलं

जैनधर्म का यह सबसे बड़ा मन्त्र है। इसमें देव (ईश्वर) और गुरु को नमस्कार है। इस मन्त्र का रोज जाप करने से दिन अच्छा जाता है। कार्य में सिद्धि होती है। रोग-शोक-सन्ताप सब दूर होजाते हैं। श्रद्धापूर्वक इसका रोज जाप करना चाहिये। इस मन्त्र को नवकारमन्त्र कहते हैं।

—: २ :—

ॐ—ओम्

जो पहले प्रकरण में 'नवकार' मन्त्र दिया है, वह जैनधर्म में सबसे बडा और अनादिसिद्ध मन्त्र माना जाता है। उसमें प्रथम के पांच पद हैं, वे परमेष्ठी कहे जाते हैं। परमेष्ठी = परम इष्ट, ऐसे पांच पदार्थ। इसका अर्थ यह है :-

१ नमो अरिहंताणं = अरिहंत भगवान् को नमस्कार हो।

२ नमो सिद्धाणं = सिद्ध भगवान् को नमस्कार हो।

३ नमो आयरियाणं = आचार्य महाराज को नमस्कार हो।

४ नमो उवज्झायाणं = उपाध्याय महाराज को नमस्कार हो।

५ नमो लोए सव्वसाहूणं = सारे जगत् में जितने भी साधु हैं, उनको नमस्कार हो।

इसमें 'अरिहंत' वे हैं जिनको सर्वज्ञता-केवल ज्ञान प्राप्त होता है, और शरीरधारी अवस्था में इस संस्कार में विचरते हैं। अरिहंत का अर्थ यह है:- अरि + हंत। अरि = शत्रु, हंत याने हनन वाले। शत्रु को मारने वाले। आत्मा के शत्रु ८ कर्म हैं, जो आगे दिखलाये जायेंगे। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ-ये आत्मा के शत्रु है, इन शत्रुओं के दूर करने से केवलज्ञान प्राप्त होता है- 'अरिहंत' पद प्राप्त होता है।

सिद्ध वे हैं, जो केवलज्ञान प्राप्त करके इस शरीर को भी छोड चुके हैं, अर्थात् जिन्होंने अशरीरी पद- मोक्ष पद को प्राप्त किया है।

आचार्य वे हैं जो कि साधुओं के समुदाय के नायक है।

उपाध्याय वे हैं, जो साधुओं को ज्ञान-ध्यान कराते हैं, पढाते हैं।

साधु वे हैं, जो पांच महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और निर्लोभता (निष्परिग्रहता) के धर्मों का सर्वथा पालन करते हैं।

जगत्प्रसिद्ध ॐ (ओम्) में इस पंचपरमेष्ठि का समावेश होता है। अर्थात् 'ॐ' के जाप में पांचों परमेष्ठिको नमस्कार आ जाता है। देखिये इन पांच परमेष्ठि के प्रथमाक्षर को लीजिये।

अरिहंत का — अ

सिद्ध (सिद्ध का दूसरा नाम अशरीरी है, इसलिये) अशरीरी का — अ

आचार्यका — आ

उपाध्याय का — उ

साधु, (साधु का दूसरा नाम है मुनि,) इसलिये मुनिका — म

अब इसको व्याकरण के नियम से संधी करिये। अ + अ = आ, आ + आ = आ, आ + उ = 'ओ' और मुनि का 'म्' मिलकरके 'ओम्' होता है। 'ॐ' यह प्राचीन आकृति है। जैनधर्म में 'ॐ' की आकृति ॐ इस प्रकार की मानी जाती है। ॐ कारका जाप करने से भी देव-गुरु-दोनों को नमस्कार होजाता है। इसका अर्थ समझना चाहिए।

—: ३ :—

अनानुपूर्वी

जिस पंचपरमेष्ठि का नाम लिया गया है, उसका ध्यान, चित्त की एकाग्रता के लिए बड़ा ही उपयोगी है। आज जहां देखो वहां लोग यही पूछा करते हैं कि माला फिराने के समय, ध्यान करने के समय चित्त की एकाग्रता नहीं रहती है-चित्त जहां तहां भटकता है, तो इसको स्थिर रखने का क्या उपाय? इसके उपाय में इस पंचपरमेष्ठि के नमस्कार की अनानुपूर्वी बहुत उपयोगी है।

अनानुपूर्वी का मतलब यह है कि— उलटे-पुलटे नम्बरों को ध्यान में रख करके उस नम्बर वाले पद को नमस्कार करना। जैसे, पांचों पद इस अनुक्रम से हैं:—

१ नमो अरिहंताणं,
२ नमो सिद्धाणं
३ नमो आयरियाणं
४ नमो उवज्झायाण
५ नमो लोए सव्वसाहूणं।

अब, इस अनुक्रम नम्बर को उलटे पुलटे रख दिये जायें और जो नम्बर जिस जगह पर हो, उसी जगह पर से उस नम्बर वाले पद को नमस्कार किया जाय। उदाहरणार्थ:—

१	२	३	४	५
२	१	३	४	५
१	३	२	४	५
३	१	२	४	५
२	३	१	४	५
३	२	१	४	५

१	२	४	३	५
२	१	४	३	५
१	४	२	३	५
४	१	२	३	५
२	४	१	३	५
४	२	१	३	५

जाप करने वाले को बराबर ध्यान रखना पड़ेगा कि अनुक्रम से एक २ खाने में जो २ अंक है, उस खाने में उसी अंक वाले पद को नमस्कार होगा। पहेले ३ है तो 'नमो आयरियाणं' ही कहना चाहिए, बाद में २ है, तो 'नमो सिद्धाणं' ही कहना चाहीए। २ के बाद ४ है, तो 'नमो उवज्झायाणं' ही कहना चाहिए।

इस प्रकार के एक ही कोष्टक नहीं हैं, अनेक कोष्टक बनते हैं, बनाये जा सकते हैं

और उसी प्रकार नंबरवार नमस्कार करने से चित्त की एकाग्रता अच्छी रहती है। इन पांच पदों के नमस्कार के बाद नवपद का, ग्यारहपद का, ऐसे बढ़ाते जाने से मनुष्य अपने चित्त को खूब काबू में ला सकता है और एकाग्रता से ध्यान कर सकता है।

—: ४ :—

जैनधर्म

'जैनधर्म' यह कोई आजकल नया उत्पन्न होने वाला धर्म नहीं है। सभा या सोसाइटी नहीं है, फिरका या सम्प्रदाय नहीं है। 'जैन-धर्म' यह आत्मा को शान्ति देनेवाला धर्म है। दुःखदावानलों से बचानेवाला धर्म है। चौरासी के फेरों से छुड़ाने वाला धर्म है। किसी देश का, किसी भी वेषका, किसी भी जाति का मनुष्य जैनधर्म का पालन कर सकता है। 'जैन धर्म' यह युनिवर्सल धर्म है। विश्वधर्म है।

'जैन' यह 'जि' धातु से बना है। 'जि' का अर्थ है जीतना। जीते सो 'जिन'। जिसने

संसार को जीता है, कर्मों को दूर किया है, जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह को मार भगाया है, उसका नाम है 'जिन'। 'जिन' कहो या 'ईश्वर' कहो, एक ही बात है। उस ईश्वर का-जिन का दिखलाया हुआ जो धर्म है, उसका नाम है 'जैनधर्म'। और जो जैनधर्म का पालन करने वाले हैं, वे हैं जैनी। 'जिन' कि-'ईश्वर' की आज्ञा का पालन करनेवाला कोई भी मनुष्य हो, 'जैन' या 'जैनी' कहा जा सकता है। जैनधर्म के सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये।

तीर्थंकर

समय समय पर जब लोगों में धर्म की शिथिलता आती है, उस समय धर्म की जाग्रति करानेवाले, शुद्ध मार्ग को दिखानेवाले, जगत् में शान्ति को स्थापन करने वाले, समाज की व्यवस्था बनानेवाले ऐसे महापुरुष उत्पन्न होते हैं। ये महापुरुष घोर तपस्या करते हैं,

संयम का पालन करते हैं, दुनियादारी से विरक्त हो जाते हैं, भयंकर कष्टों को सहन करते हैं, शत्रु-मित्र को समान गिनते हैं मोह-ममत्व का त्याग कर देते हैं। ऐसा करके केवलज्ञान-अतीन्द्रियज्ञान-सर्वज्ञता को प्राप्त करते हैं। केवलज्ञान होने से, तीन लोक के समस्त पदार्थ को अपने ज्ञान से देख लेते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। प्रत्येक मनुष्य के मानसिक विचारों को भी जान लेते हैं ऐसी सम्पूर्णता को प्राप्त करने के बाद ही वे संसार के जीवों को उपदेश देते हैं। क्योंकि जब तक किसी में अपूर्णता रहती है, अल्पज्ञता रहती है तबतक उनके कथन में, उनके उपदेश में, उनके दिखलाये हुए मार्ग में, न्यूनता रहने की सम्भावना है और जब सर्वज्ञ हो जाता है, तब उसमें किसी अंश में भी असत्यता आने की सम्भावना ही नहीं है। यही कारण है कि जैनधर्म के उद्धारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी ने, आज से २५०० वर्ष पर जो सिद्धान्त प्रकाशित किये, वे आज भी विज्ञान (सायन्स) के द्वारा सिद्ध हो रहे हैं।

इस प्रकार का केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद, वे महापुरुष धर्म-की प्ररूपणा करते हैं और 'संघ' की स्थापना करते हैं। 'संघ' की स्थापना उसे कहते हैं कि जिसमें साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार के समूह को संगठित करते हैं। तब ही वे 'तीर्थंकर' (तीर्थ याने संघ को स्थापन करने वाले) कहे जाते हैं।

साधु वे हैं जो पुरुष संसार से विरक्त होकर सर्वथा त्यागी बन जाते हैं।

साध्वी वे हैं जो स्त्रियाँ संसार से विरक्त होकर त्यागिनी बन जाती हैं

श्रावक वे हैं जो पुरुष गृहस्थाश्रम में रहते हुए जितने अंशों में हो सके, उतने अंशों में त्याग करते हैं। नियमित रहते हैं।

श्राविका वे हैं जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में रहती हुई, जितने अंशों में हो सके उतने अंशों में त्याग करती हैं। नियमित रहती हैं।

तीर्थंकर, अपनी आयुष्य को पूरी करने के बाद, इस शरीर को छोड मुक्ति में जाते हैं

अर्थात् इनका मोक्ष हो जाता है। क्योंकि उनके सभी कर्म क्षय हो जाते हैं। इसके बाद इनका पुनर्जन्म नहीं होता। वे सिद्ध हो जाते हैं।

लाखों, करोड़ों, अबजों वर्षों में ऐसे तीर्थंकर २४ होते हैं। २४ से न ज्यादा होते हैं, न न्यून। २४ तीर्थंकरों के नाम ये हैं:—

१ ऋषभदेव	१३ विमलनाथ
२ अजितनाथ	१४ अनन्तनाथ
३ संभवनाथ	१५ धर्मनाथ
४ अभिनंदन	१६ शान्तिनाथ
५ सुमतिनाथ	१७ कुंथुनाथ
६ पद्मप्रभ	१८ अरनाथ
७ सुपार्श्वनाथ	१९ मल्लीनाथ
८ चन्द्रप्रभ	२० मुनिसुव्रतस्वामी
९ सुविधिनाथ	२१ नमिनाथ
१० शीतलनाथ	२२ नेमीनाथ
११ श्रेयांसनाथ	२३ पार्श्वनाथ
१२ वासुपूज्य	२४ महावीरस्वामी

इसमें अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी हुए हैं। वर्तमान में जो जैनधर्म का शासन चल रहा है, वह 'महावीरस्वामी' का प्रकाशित किया हुआ है।

—:६:—

महावीरस्वामी

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरस्वामी, मगध देश के क्षत्रियकुंडनगर के महाराजा सिद्धार्थ के पुत्र थे। इनकी माता का नाम त्रिशालादेवी था। इनके एक बडे भाई थे जिनका नाम नन्दिवर्धन था और बहिन का नाम था सुदर्शना।

महावीर, जब माता की कुक्षि में आये तब माता को १४ उत्तमोत्तम स्वप्न आये थे। उस परसे माता-पिता को सूचित हो चुका था कि यह लडका कोई महा प्रतापी होगा। बल्कि जिस दिन से यह जीव गर्भ में आया, उस दिन से महाराजा सिद्धार्थ के वहां ऋद्धि, समृद्धि,

मत्ता, यश कीर्ति आदि सभी बातों में वृद्धि होने लगी थी। इसलिए माता-पिता ने संकल्प किया था कि जब यह बालक जन्म लेगा, तब इसका नाम "वर्द्धमान" रक्खेंगे। चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन इनका जन्म होता है। देवताओं ने भी बड़ा उत्सव मनाया। राजा ने भी अति हर्ष और अति उदारता पूर्वक जन्मोत्सवादि विधि विधान किये। नाम "वर्द्धमान" रक्खा।

बाल्यावस्था से ही वर्द्धमान की शक्ति अद्‌भुत थी। बड़े बड़े देवता भी इसको चलायमान नहीं कर सकते थे। सांप हो चाहे शेर हो, कोई इसको नहीं डरा सकते थे। किसी भी शक्तियों का सामना करना, इसके लिये बांये हाथ का खेल था। इसी शक्ति से इसका नाम 'वीर' 'महावीर' भी देवताओं ने रक्खा था।

वर्द्धमान कुमार, जैसे जबरदस्त शक्तिशाली था, वैसे ही बाल्यावस्था से अपूर्व ज्ञानी था। कोइ विषय उसको सीखने की जरुरत नहीं थी और जैसा वह ज्ञानी था वैसाही विरागी भी था। उन्हें सांसारिक सुखों से लिप्तता नहीं थी

फिर भी माता पिता की आज्ञा से उन्होंने शादी की। इनकी पत्नी का नाम यशोदा था। यशोदा से इनके एक पुत्री भी हुई, जिसका 'जमाली' के साथ विवाह किया गया था।

वर्द्धमान को सांसारिक कार्यों में कोई दिलचस्पी नहीं थी। बल्कि उन्होंने तो अपना भविष्य देख लिया था। वे संसार के उद्धारक होने वाले थे। त्यागियों में सर्वोत्कृष्ट होने वाले थे। २८ वर्ष की उम्र में माता-पिता के देहान्त होने के बाद, उन्होंने बडे भाई नन्दिवर्धन से, अपने को साधु होजाने की आज्ञा माँगी। माता-पिता के विरह के दुःख में, लघुबन्धु के संन्यासी-साधु होने की बात, घाव में नमक डालने जैसी लगी। नंदिवर्धन वर्धमान की चर्यासे समझते थे कि यह संसार में रहने का नहीं। जरूर साधु हो जायगा। फिर भी उन्होंने वर्धमान को दो साल और रहने की साग्रह विनति की। वर्धमान ने स्वीकार किया। वर्धमान यद्यपि भाई के साथ रहे, साधु नहीं हुए, परंतु, सांसारिक किसी भी कार्य में दिलचस्पी नहीं ली। गृहस्थ होते हुए त्यागी ही रहे। अपने

निमित्त किसी भी कार्य को नहीं होने दिया। और न स्वयं भी कोई आरंभिक (पापवाला) कार्य किया।

तीस वर्ष की उम्रमें वर्धमान-महावीर दीक्षित हुए। एक वर्ष पहिले से दान देना प्रारंभ किया। लोगों की दरिद्रताएं दूर की। अपने सम्बन्धियों को भी खूब धन-माल-मिलकत देकर संतोषित किया।

महाराजा नंदिवर्धन ने और देवताओं ने इसका बडे समारोह से दीक्षोत्सव किया। दीक्षा लेकर अब महावीर सच्चे 'महावीर' होकर भ्रमण करने लगे। घोर तपस्या करना और कष्टों को सहन करना, यही महावीर का कार्य रहा। ध्यान, समाधि, योग—इसमें महावीर दत्तचित्त रहे। किसी न किसी निमित्त से लोगों ने कष्ट देनेमें कमी नहीं रक्खी, परन्तु महावीर समझते थे कि इन कष्टों के सहन करने से ही मेरे आत्मा का विकास होगा। मुझे ज्ञान की प्राप्ति होगी। और जब सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होगी तब ही मेरा मोक्ष होगा। किसी ने इनके

पैरों में आग लगाकर खीर पकाई, तो किसी ने आकर इनके कानों में कीले ठोके। जिसकी मर्जी में आया सो किया। महावीर शान्त रहे, गंभीर रहे। उफ़ तक न की। एक चंडकौशिक नाग (सांप), जो कि इतना क्रूर था कि उस जङ्गल में जो जाता था, वह उसकी ज्वाला से ही मर जाता था। महावीर को लोगों ने बहुत निषेध करने पर भी, महावीर उस जङ्गल में गये और उसी सांप के बिल पर खडे होकर ध्यान करने लगे। महावीर की आत्मशक्ति का कितना प्रभाव! सांप महावीर के पैरों को डंक लगाता है, परंतु महावीर के शरीर से लोही के बदले में सफेद दूध की धारा नीकलती है। महावीर दया बुद्धि से उसको उपदेश करते हैं। चंडकौशिक को आत्मज्ञान होता है और उसका उद्धार होता है। भगवान् महावीर ने इस प्रकार बारह वर्ष तक घोर तपस्या की और कष्टों को सहा। महावीर की तपस्या का इसी पर से अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने बारह वर्ष में सिर्फ ३४९ दिन ही भोजन लिया। महावीर ने जितनी भी तपस्या की, वह सब बिना अन्न-जल से की। तपस्या के दिनों में

पानी तक भी मुँह में नहीं डालना; यह महावीर की तपस्या की विशेष उत्कृष्टता थी।

इस तपस्या के अग्नि की इतनी प्रज्वलता थी कि जिस प्रज्वलता से उनके कर्म भस्मीभूत हो गये। दिव्यज्ञान प्रकट हुआ। लोकालोक का ज्ञान हुआ। आत्मस्वरुप देख लिया। सम्पूर्णता प्राप्त हुई।

कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् अब प्रभु महावीर ने संसार के जीवों को सत्यमार्ग दिखलाना शुरू किया। जबतक भगवान् ने केवलज्ञान नहीं प्राप्त किया, तबतक भगवान् मौन ही रहे। उन्होंने उपदेश नहीं दिया। तीस वर्ष पर्यन्त भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए भगवान् ने अनेक प्रकार के तत्त्वों का प्रकाशन किया। लोगों को सच्चा मार्ग दिखाया। संसार का स्वरूप उन्होंने अपने उपदेश में तादृश्य बताया।

भगवान् के उपदेश में अहिंसा, संयम और तप का प्राधान्य है। भगवान् के उपदेश में से आत्मिकविकाश का प्रकाश मिल सकता है।

भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिया, उसमें न किसी प्रकार का स्वार्थ था, न किसी प्रकार का आग्रह था। भगवान् का एक ही लक्ष्य था: जिसके द्वारा मैंने दिव्यज्ञान प्राप्त किया है, उसके द्वारा संसार के समस्त जीव दिव्यज्ञान-कैवल्य को प्राप्त करें और जैसे मैं महावीर बना हूं, वैसे ही समस्त जीव महावीर बनें।

बड़े-बड़े राजा महाराजा भगवान् महावीरके उपदेश पर मुग्ध हुए। बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् उनके उपदेश से, उनके दर्शनमात्र से मुग्ध होकर उनके शिष्य-साधु हुए। भगवान् महावीर का उपदेश सार्वजनिक था। जगत् के प्राणिमात्र के उपकारक था।

कैवल्य होने के पश्चात् ३० वर्ष अर्थात् अपनी ७२ वर्ष की आयुष्य पर्यन्त भगवान् संसार को सच्चा मार्ग दिखलाते रहे और अन्त में बिहार (पटना) के पास पावापुरी नामक स्थान में उनका निर्वाण हुआ। भगवान् का निर्वाण हुए आज २४६५ वर्ष हो चुके हैं।

—: ७ :—

देव

जैनधर्म में देव दो प्रकार के माने गये हैः लौकिक और लौकोत्तर। लौकिक देव के चार भेद हैंः १ भुवनपति, २ व्यन्तर, ३ ज्योतिष्क और ४ वैमानिक। संसार के जीवों का चार गतियों में विभाग किया गया है १ देवगति, २ मनुष्यगति, ३ तिर्यंचगति और ४ नरकगति। देवगति में रहेनेवाले जीव भी संसार के ही जीव हैं। ऋद्धि-समृद्धि से, भोग-विलास से, उनका स्थान मनुष्यगति से ऊँचा है। लेकिन उनको भी चौरासी के फेरों में फिरना पडता है। उनको भी राग द्वेष है, उनको भी मोह-ममत्व है, उनको भी कर्मबन्धन है। इसीलिए उन देवों को लौकिक देव कहा गया है।

लोकोत्तर देव वे हैं, जिनका राग-द्वेष, मोह, ममत्व और समस्त कर्मों का आवरण दूर हो गया है, जो सर्वज्ञ हैं, जो तीन लोक

के पूजनीय हैं, जिन्होने अपने निर्मल ज्ञानचक्षु से देख कर पदार्थों का प्रकाश किया है। उसको 'देव' या 'परमेश्वर' कहते हैं।

जैनधर्म कहता है कि जिनमें से १८ दोष दूर हो गये हों वे लोकोत्तर देव हैं। अठारह दूषण ये हैं :—

१—५ पांच प्रकार के अन्तरायकर्म जिनके दूर हुए हों। अन्तराय उसे कहते हैं जो किसी कार्य के करने में विघ्नभूत हों, अर्थात दान देने में विघ्नभूत कर्म, उसको दानान्तरायकर्म कहते हैं।

लाभ प्राप्त करने में विघ्नभूत कर्म, उसको लाभान्तराय कर्म कहते ह।

वीर्य—पुरुषार्थ करने में विघ्नभूतकर्म उसको वीर्यान्तरायकर्म कहते हैं

भोग—जो पदार्थ एक बार भोगा जाता है, वह भोग कहलाता है। जैसे भोजन वगैरह। ऐसे भोग्य वस्तु के भोगने में अन्तराय भूत कर्म, उसको भोगान्तरायकर्म कहते हैं।

उपभोग—जो पदार्थ अनेक बार भोगा जाता है, उसको उपभोग कहते हैं, जैसे घर, आभूषण वगैरह। ऐसे उपभोग्य वस्तुओं के भोगने में अन्तरायभूत कर्म, उसको उपभोगान्तरायकर्म कहते हैं।

इन पांचों प्रकार के अन्तराय कर्म जिनके दूर हुए हैं। यद्यपि, देव होने के पश्चात् देवको-ईश्वर को दान देने की, लाभ उठाने की, पुरुषार्थ करने की और भोग्य एवं उपभोग्य वस्तुओं को काम में लाने की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्यों कि समस्त वस्तुओं से वे पर हो जाते हैं, तथापि यह पांचों कार्यों में विघ्न करने वाला कर्म नष्ट हो जाने से उनमें ईश्वरत्व की प्रभुत्व की शक्ति उत्पन्न होती है। यदि उनका अन्तराय कर्म-आवरण दूर न हुआ हो, तो उस में वह शक्ति नहीं आसकती। और शक्ति नहीं है तो प्रभुत्व भी नहो है-देवत्व भी नहीं है। शक्ति का उपयोग करने की देवको-ईश्वर को आवश्यकता ही नहीं है।

६ हास्य (हंसना), ७ रति (किसी भी

पदार्थ के ऊपर प्रीति), ८ अरति (किसी भी पदार्थ के ऊपर अप्रेम होना), ९ भय, १० जुगुप्सा (घृणा, किसी खराब वस्तु को देखकर, उसके प्रति अभाव-तिरस्कार होना), ११ शोक (चिन्ता दुःखी होना), १२ काम (विकार), १३ मिथ्यात्व (झूठी बातों में श्रद्धा करना), १४ अज्ञान (मूढपन), १५ निद्रा, १६ अविरति (त्यागभाव का न होना) १७ राग (सुख के साधनों में आसक्ति-दिलचस्पी-प्रेम), १८ द्वेष (दुःख के साधनों के प्रति अभाव)।

इन अठारह दूषणों का सर्वथा अभाव जिसमें होता है वही देव है, वही तीर्थंकर है, वही अर्हन् है, वही परमेश्वर है। इनमें से एक भी दूषण रहेगा, वहां तक वह लोकोत्तर देव अर्थात् परमात्मा नहीं कहा जासकता, ऐसा जैनधर्म कहता है।

जैनधर्म कहता है कि ईश्वर एक भी है अनेक भी हैं। संसार मे जो जीव अपने कर्मों का क्षय करके मुक्ति में जाते हैं वे व्यक्तिरूप जाते हैं। इसलिये ईश्वर-परमात्मा अनेक हैं।

परंतु संसार से मुक्त होने के बाद स्वरूप से वे सभी आत्मा एकरूप हो जाते हैं, उस अपेक्षा से परमात्मा एक है।

ईश्वर पुनः अवतार को-जन्म को धारण नहीं करते, क्योंकि जन्म-जन्मान्तर में जाने का-अवतार को धारण करने का जो कारण है, वह कर्म है और ईश्वर—परमात्मा होने के पश्चात् कोई कर्म नहीं रहता अर्थात् समस्त कर्मों का-आवरणों का क्षय होजाने से यह आत्मा, परमात्मा बनता है। फिर उनको जन्म धारण करने की जरूरत नहीं।

देव को-ईश्वर को राग द्वेष का अभाव दिखलाया गया है। शरीर का भी अभाव है। क्रिया का भी अभाव है। जब रागद्वेष नहीं है, तो इच्छा नहीं है। इच्छा नहीं है तो किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं है। इसलिए जैनधर्म कहता है कि ईश्वर किसी चीज को बनाते नहीं, किसी को सुख दुःख देते नहीं, किसी भी कार्य में दखलगिरि करते नहीं। इस संसार की जो घटमाल चलरही है, वह स्वाभाविक

ही है। अथवा संसार के जीव जो सुख दुःख भोग रहे हैं वह सब अपने अपने कर्मानुसार है।

यद्यपि ईश्वर कुछ देते लेते नही, किसी कार्य में प्रवृत्ति करते नहीं, तथापि ईश्वर की उपासना-भक्ति करना जरूरी है। क्योंकि हमें ईश्वर होना है, हमें संसार से मुक्त होना है। उपासना उसकी करनी चाहिए जो संसार से मुक्त हुआ हो। फल की प्राप्ति का आधार किसी के लेने-देने पर नहीं है। दान करनेवाला जिसको दान करता है, उससे फल नहीं पाता है। परन्तु दान देने के समय उसकी जो सद्भावना होती है वही फल को देती है। पुण्य होता है। इसी प्रकार ईश्वर की उपासना करने में हमारा जो हृदय शुद्ध होता है, सद्भावना होती है वही फल है। संतों के पास जाते हैं, तो संत क्या देते हैं? लेकिन संतों के पास जाने से हमारा अन्तःकरण शुद्ध होता है वही फलप्राप्ति है। वेश्या के पास जाने से क्या वेश्या उस मनुष्य को नरक में डाल देती है? नहीं, वेश्या के पास जाने से उस मनुष्य का अन्तःकरण नापाक होता है, इसलीए उसको

बुरे कर्म उपार्जन होते हैं, यही नरक का कारण है।

इसी प्रकार, ईश्वर का ध्यान, ईश्वर की भक्ति, उपासना, प्रार्थना करने से हमारा हृदय शुद्ध होता है। हृदय का शुद्ध होना यही धर्म, यही फल है।

यह ईश्वरवाद[1] का विषय बहुत गहन है किसी मौके पर इस विषय पर स्वतंत्र पुस्तक निकालेंगे।

---

१ ईश्वरवाद पर मेरे सात व्याख्यानों का संग्रह प्रकाशित हुआ है, वह देखा जाय। लेखक.

—: ८ :—

गुरु

जैनधर्म में गुरु तत्त्व के ऊपर भी बहुत जोर दिया गया है। हरएक मनुष्य गुरु नहीं हो सकता। जिसमें त्याग हो, वैराग्य हो वह गुरु होने के योग्य है। संसार के मनुष्यों को कल्याणमार्ग वही बता सकता है, जिसने कल्याणमार्ग स्वयं पकडा हो। संसार के मनुष्यों को 'त्याग' का उपदेश वही दे सकता है, जो स्वयं त्यागी हो। जो मनुष्य स्वयं हिंसा करे, स्वयं झूठ बोले, चोरी करे, ब्रह्मचर्य का पालन न करे, पैसा-टका रक्खे, वह मनुष्य धर्म का उपदेश करने का अधिकारी नहीं। वह 'गुरु' होने का अधिकारी नहीं। जैनधर्म में गुरु के लक्षण ये बतलाये हैं :—

जो पांच महाव्रतों का पालन करता हो, जो धीर हो, भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता हो, समस्त छोटे-बडे जीवों पर समभाव रखता हो और जो धर्म का उपदेश देता हो, वह 'गुरु' कहा जा सकता है। वही गुरु होने के योग्य है।

१ पांच महाव्रत ये हैं:—किसी जीव को तकलीफ देना नहीं, हिंसा करना नहीं, झूठ बोलना नहीं, चोरी करना नहीं, (छोटी सी चीज भी विना आज्ञा से लेना नहीं) संसार की समस्त स्त्रियों को माता बहन और पुत्री समझकर, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना, और धन-धान्य-पैसा-टका-खेती-बाडी-घर-बार कोई भी चीज का परिग्रह रखना नहीं। किसी चीज के ऊपर मूर्च्छा रखना नहीं।

२ धीर का मतलब यह है कि कितना भी कष्ट आवे, लेकिन उसको सहन करना। घबराना नहीं चाहिए और कैसे भी कष्टों के समयमें अपने व्रतों से चलायमान होना नहीं।

३ भिक्षावृत्ति का मतलब यह है कि साधु कभी रसोई बनावें नहीं। गृहस्थों के घरों से पकी पकाई रसोई, जो गृहस्थ दे, वह ले आवे और अपना निर्वाह करे। भिक्षा भी प्रत्येक घर से उतनी ही ले, जिससे गृहस्थ को तकलीफ न हो; और फिर से बनाने की जरूरत न हो। एक घर से साधु भोजन न करे। साधु को

चाहिए कि अपने निमित्त बनाई हुई चीज न लेवे

४ समभाव—अथात् शत्रु हो चाहे मित्र, राजा हो चाहे रंक, दुखी हो चाहे सुखी, छोटा हो चाहे बडा-सभी के ऊपर समानवृत्ति रक्खे, सबका कल्याण चाहे ।

५ धर्मोपदेशक—साधु हमेशा संसार में भ्रमण करते हुए संसार के जीवों को धर्म का ही उपदेश दे । अर्थात् साधु किसी प्रकार प्रपंच में नहीं पडते हुए लोगों को कल्याण का मार्ग ही बतावे ।

उपर्युक्त पांचों नियमों का संक्षिप्त सारांश यह है कि—

साधु पेश-आरामी न हो, साधु दुन्यवी चीजों में आसक्त न हो । पैसा टका न रक्खे । स्त्रियों का परिचय और स्त्रियों का स्पर्श भी न करे । रेल-इक्का-गाडी-मोटर-हवाई जहाज—घोडा-ऊंट-यावत् किसी भी प्रकार की सवारी न करे । हमेशा पैदल ही भ्रमण करे । बरसात

के दिनों में चार महिने तक एक स्थान में रहे। आठ महिने भ्रमण करे। छोटे बडे सभी गांवों में जाय। किसी भी गृहस्थ का तकलीफ न हो इस प्रकार अपना व्यवहार रक्खे। निर्दोष आहार-पानी का, भिक्षावृत्ति द्वारा, स्वीकार करे। किसी प्रपच में पडे नहीं। धर्म का उपदेश दे और परिग्रह को रक्खे नहीं।

येही गुरु के लक्षण हैं। सन्यासियों के येही लक्षण बतलाये हैं। आज ऐसे कलियुग में भी जैनसाधु इसी प्रकार के आचार विचारों का पालन करते हैं। जिस समय करीब सारे संसार के साधु प्रलोभनो में फँसे हुए हैं उस समय एक सिर्फ जैनसाधु ही हैं, जो बिना गरम किए पानो को छूते तक नहीं, आग को काम में लाते नहीं, वनस्पति को छूते नहीं, कितनी भी गरमी हो, पंखा चलाते नहीं, पैदल ही चलते हैं, पैसे टके का संबंध रखते नहीं, खुले पैर, खुले सिर, लकडी के पात्र भोजन के लिए, और दो चार कपडे ओढने-बिछाने के अपने कंधे पर उठाकर चलते हैं। बरसात के चार महीने एक स्थान पर रहते हैं। आठ

महीने भ्रमण करते हैं। उनका कोई मठ नहीं, उनका कोई स्थान नही। उपदेश देना और साहित्य की सेवा करना, यही उनका काम रहता है।·भिक्षावृत्ति से निर्वाह करते हैं। न किसी को तकलीफ देते हैं, न किसी प्रकार की उपाधि रखते हैं। कीसी स्त्री का, चाहे एक दिन की लडकी क्यों न हो, चाहे अपनी सगी माता क्यों न हो, छूते तक नहीं। दूर से आशीष देते हैं।

—: ९ :—

धर्म

जैनधर्म कहता है कि धर्म की उत्पत्ति कभी नहीं होती। 'धर्म' यह तो अनादिकाल से चला आया है। जैसे गुण, गुणी में रहता है, उसी प्रकार 'धर्म' धर्मी में रहता है। धर्म ऐसी चीज नहीं है जो अकेली रह सके। धर्म का लक्षण बतलाया है:- 'वत्थुसहावो धम्मो' वस्तु का स्वभाव उसी का नाम है धर्म। अग्नि का

स्वभाव है उष्णता, यही अग्नि का धर्म है। पानी का स्वभाव है शीतलता, यही पानी का धर्म है। इसी प्रकार आत्मा का धर्म है सच्चिदानन्दमयता अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र।

इस धर्म की रक्षा करने के साधन अनेक होते हैं। दान, शील, तप, भाव, परोपकार, सेवा, सन्ध्या, ईश्वर-भक्ति, प्रार्थना इत्यादि धर्म के साधन हैं। इससे उत्पन्न होनेवाली चीज, वह है धर्म। अर्थात् अन्तःकरण का शुद्ध होना, उसको कहते हैं धर्म। अथवा क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग-द्वेष इत्यादि जो आभ्यन्तर शत्रु हैं, उसको दबाना, दूर करना, उसका नाम है धर्म। ये चीजें ऐसी हैं जो दुर्गति में गिरते हुए जीवों को बचा लेती हैं। इसीलिये इसका नाम धर्म है। जिससे धर्म होता हो, वे धर्म के कारण कहे जाते हैं। उन कारणों का, कार्य में (धर्म में) उपचार करने से वे 'कारण' भी 'धर्म' कहे जा सकते हैं। और इसी लिए एक प्रकार का धर्म, दो प्रकार का धर्म, तीन प्रकार का धर्म, चार प्रकार का धर्म, इसी तरह पांच, छ, सात, आठ, नव, दस प्रकार का

धर्म-ऐसे धर्म के भेद माने गये हैं। संसार की ऐसी कोई भी चीज, जिससे अन्तःकरण शुद्ध हो, हृदय की पवित्रता हो, कर्मों का क्षय हो, आत्मा का विकास हो, वह सब 'धर्म' का कारण है और इसी लिये वह धर्म है। दान करना धर्म है, ब्रह्मचर्य पालन करना धर्म है, दूसरे की सेवा करना धर्म है, अहिंसा, संयम और तप यह धर्म है, क्षमा करना धर्म है, क्रोधादि शत्रुओं का दमन करना धर्म है, निर्लोभता रखना धर्म है, शास्त्रों का अध्ययन करना धर्म है, संसारत्यागी होजाना—साधु होना धर्म है। ईश्वरभक्ति करना धर्म है। क्योंकि इन कामों से पुण्य होता है। धर्म होता है। आत्मविकास होता है। जैनधर्म के तीर्थंकरों ने यही धर्म दिखलाया है।

—: १० :—

सम्यक्त्व अथवा सम्यग्दर्शन

जैनधर्म में 'सम्यक्त्व' पर बहुत जोर दिया गया है। सम्यक्त्व यह आत्मा का गुण है। सम्यक्त्व यह बीज है। जसे बीज के सिवाय अंकुर नहीं होता और वृक्ष नहीं होता, वसे सम्यक्त्व के सिवाय जितनी भी क्रियाएं की जाय, प्रायः बेकार सी होती है।

'सम्यक्त्व' का सीधा सादा अर्थ किया जाय तो उसको 'विवेकदृष्टि' कह सकते हैं। प्रत्येक क्रिया में विवेकदृष्टि होनी चाहिए। अथवा दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'सम्यक्त्व' का अर्थ होता है 'श्रद्धा'। देव, गुरु, धर्म के ऊपर पूर्ण विश्वास, उसका नाम है 'सम्यक्त्व'। श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'योगशास्त्र' में सम्यक्त्व की सादी-सीधी व्याख्या करते हुए यही कहा है कि—

देव में देवबुद्धि, गुरु में गुरुबुद्धि और धर्म में धर्मबुद्धि–उसीका नाम है सम्यक्त्व।

अर्थात् तीर्थंकरों ने जो देव का, गुरु का और धर्म का स्वरूप दिखलाया है, उन्हीं को देव, गुरु और धर्म मानना, उसीका नाम है सम्यक्त्व। मनुष्य चाहे गृहस्थधर्म में रहे, चाहे साधुधर्म में; परन्तु उसको सम्यक्त्व-श्रद्धा होनी चाहिए।

इस सम्यक्त्व को 'सम्यग्दर्शन' भी कहते हैं। इसकी व्याख्या भी उमास्वाति महात्मा ने तत्त्वार्थसूत्र में यही की है:-"तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्"। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, देव, गुरु, धर्म इत्यादि समस्त तत्त्व-पदार्थ और उसके अर्थ में संपूर्ण श्रद्धा, उसका नाम है सम्यक्दर्शन।

यह सम्यग्दर्शन आत्मा को, या तो स्वाभाविक ही पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होता है अथवा किसी निमित्त से भी होता है। निमित्त याने गुरु के उपदेश से, धर्मग्रन्थों के पढने से अथवा और भी किसी निमित्त से होता है।

श्रद्धा के सिवाय किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। जबतक श्रद्धा नहीं, यकीन नहीं, सम्यक्त्व नहीं, तब तक धर्म का आचरण सिर्फ

दिखावा के लिए होता है और जो सिर्फ दिखावा के लिए होता है, उससे आत्मिकलाभ क्या मिल सकता है?

सम्यक्त्व से विपरीत 'मिथ्यात्व' है। अर्थात् जिसमें देव के गुण न हों उसको देव, गुरु के गुण न हों उसको गुरु, और हिंसा आदि दुर्गतिदायक बातों को धर्म माने तो वह 'मिथ्यात्व' है।

जिसको सम्यक्त्व होता है, वह मनुष्य धर्मकार्यों में अच्छी प्रवृत्ति करता है। उसका अन्तःकरण दयालु और परोपकार में तत्पर रहता है। देव-गुरु-धर्म की सेवा में भी तत्पर रहता है।

—: ११ :—

ज्ञान

हिन्दुधर्मशास्त्रों में आत्मा को सत्-चित्-आनन्दमय दिखलाया है। जैनधर्म में दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय कहा है। बात एक ही है। सिर्फ शब्दान्तर है। अर्थों से एक ही बात है। उसमें जिसको चित् कहा है। उसी को जैनधर्म में सम्यग् 'ज्ञान' कहा है।

जिससे वस्तु का स्वरूप जाना जाय, उसी का नाम है ज्ञान। जैनशास्त्रों में ज्ञान के पांच भेद दिखलाये हैं—

१ मतिज्ञान २ श्रुतज्ञान ३ अवधिज्ञान ४ मनःपर्यायज्ञान और ५ केवलज्ञान।

१ मतिज्ञान—मन और इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होना, यह मतिज्ञान।

२ श्रुतज्ञान—जिसमें शब्द और अर्थ की पर्यालोचना रहे, और जो ज्ञान मतिपूर्वक हो वह श्रुतज्ञान है। ये दोनों ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा अवश्य रखते हैं।

३ अवधिज्ञान—इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा विना रक्खे, अमुक हद तक के रूपी द्रव्यों का जिससे ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है। जैनधर्म कहता है कि- देवता और नारकी के जीवों को अवधिज्ञान जन्म से ही होता है।

४ मनःपर्यायज्ञान—इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नहीं रखते हुए, अमुक हद तक के जीवों के मनोगत भावों को जिससे जाना जाय वह मनःपर्यायज्ञान है।

५ केवलज्ञान—समस्त संसार के, समस्त-पदार्थ, चाहे वे रूपी हों चाहे अरूपी, भूत भविष्य, वर्तमान किसी भी काल के हों, जिससे जाने जांय, उनका नाम है केवलज्ञान। अर्थात् संसार का कोई भी पदार्थ केवलज्ञानी से छिपा नहीं रहता। केवलज्ञान होने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने में किसी चीज की न्यूनता नहीं रहती। खास करके आयुष्य जितना बाकी रहता है, उतना पूर्ण करना पडता है। आयुष्य पूर्ण होने के बाद केवलज्ञानी जीव मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। फिर उनका पुनरागमन नहीं होता।

—: १२ :—

चारित्र-संयम

चारित्र कहते हैं संयम को, त्याग को, इन्द्रिय के निग्रह को, पवित्र आचरण को। साधुओं के पांच महाव्रत, दश प्रकार का यतिधर्म, सतरह प्रकार का संयम, गृहस्थों के बारहव्रत— ये सब चारित्र में आजाते हैं।

चारित्र के मुख्य दो भेद माने गये हैं— 'सर्व से' और 'देश से'। अर्थात् सर्वथा त्यागवृत्ति: यह 'सर्व से' चारित्र और अंश में त्यागवृत्ति, यह 'देश से' चारित्र कहा जाता है।

सर्वथा संयम (चारित्र) साधुओं के लिए है, और देश से- अमुक हद तक गृहस्थों के लिये है। संक्षेप से कहा जाय तो—हिंसा, झूठ आदि जितनी अशुभ प्रवृत्तियां हैं, उन प्रवृत्तियों से दूर रहना, उसी का नाम है चारित्र, किंवा संयम। इस संयम के सतरह प्रकार जैनशास्त्रों में दिखाया है।

५ जिसके द्वारा कर्मों का उपार्जन हो, उसको आश्रव कहा है, ऐसे पांच आश्रव है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह- ये पांच आश्रव कहे जाते हैं, इनका त्याग करना।

५ स्पर्शन (चमडी), रसन (जिह्वा), घ्राण (नासिका) श्रोत्र (कान) और चक्षु (आंख)-इन पांच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त न होना, उन विषयों से आत्मा को स्वतन्त्र रखना,-इसका नाम है इन्द्रियनिग्रह ।

४ क्रोध, मान, माया और लोभ-ये चार कषाय कहे हैं। इन कषायों को बाहर आने से रोकना, दबाना, उत्पन्न नहीं होने देना उसका नाम है कषायजय ।

३ मन, वचन, काया को शास्त्रकारों ने 'दंड' बतलाया है। क्योंकि इनके द्वारा ही आत्मा अपने पवित्र ऐश्वर्य को खो बैठता है। इन तीनों दंडों की अर्थात् मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करना। इस प्रकार संयम के-चारित्र के १७ भेद हैं।

पिछले तीन पाठों में (१०-११-१२ में) दिखलाए हुए दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन त्रिपुटी

का प्राप्त करना, यही मोक्ष का मार्ग है, ऐसा जैनशास्त्रों में कहा है। अर्थात् सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चरित्र यही मोक्षमार्ग है। इन तीनों की आराधना से जीव अपने समस्त कर्मों का क्षय करता है, और समस्त कर्मों का क्षय करना, उसी का नाम है मोक्ष। इसलिए अब जीवादि जो नव पदार्थ जैनशास्त्रों में दिखलाय हैं, उनका स्वरूप कहेंगे।

जैनधर्म

(खंड २)

—: १३ :—

गृहस्थ धर्म

जैनधर्म में जैसे 'साधुधर्म' दिखलाया है, वैसे ही गृहस्थ धर्म भी। साधु हो चाहे गृहस्थ, धर्म का आचरण किये विना कल्याण होने का नहीं है, यह निर्विवाद है। बेशक, जो साधु का धर्म है, वही गृहस्थों का नही हो सकता। क्योंकि दोनों की मर्यादा भिन्न है। साधु तो सारी दुनियादारी को छोड देते हैं। इसलिये उनको न द्रव्य से मतलब है, न घरबार से; न स्त्री से मतलब है, न पुत्र परिवार से। इसलिये हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि उनके लिये सर्वथा त्याज्य है। परन्तु गृहस्थों को सब कुछ निभाना है—चलाना है। इसलिये उनके लिये कुछ मर्यादा तो होनी ही चाहिए। इसीलिये जैनशास्त्रों में गृहस्थों के धर्म, साधुओं के धर्म से भिन्न दिखलाये हैं।

जो लोग जैनधर्म पालते हैं, उनको जैन-शास्त्रों में श्रावक और श्राविका कहा है। इसका

मतलब यह नहीं कि बनिये ही जैनधर्म को पालें। किसी भी कोम का—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कोई भी हो-जैनधर्म को पालने का अधिकारी है, और उसको भी श्रावक श्राविका कह सकते हैं। भगवान् महावीर देव के मुख्य दश श्रावकों का वर्णन शास्त्रों में आता है। उन दश में कुछ कुंभार थे और कुछ कुणबी थे। 'श्रावक' का अर्थ तो यह है कि जो श्रवण करे, हितकर वचनों को सुने, अर्थात् कल्याणमार्ग को ग्रहण करने में तत्परता रक्खे, उसी का नाम है श्रावक। चाहे कोई भी हो।

साधुओं के लिये जैसे पांच महाव्रत जैनशास्त्रो में दिखलाते हैं, वैसे ही श्रावकों के लिये— गृहस्थों के लिये बारह व्रत बतायें हैं।

यह भूलना नहीं चाहीए कि यह संसार आधि (मानसिक पीडा), व्याधि (शारीरिक पीडा) और उपाधि (पुत्र, परिवार, धन, माल मिलकत इत्यादि संबन्धी चिंताओं) से भरा पडा है। उसीके अन्दर फस करके मनुष्य दुखों को उठा रहा है। दुःख यह भूलों का परिणाम है। मनुष्य अपने धर्म का पालन नहीं करने को

गलती करता है, इसलिये दुःखी होता है। शास्त्रकारों ने यम—नियम बताये हैं वह इसीलिये कि किसी भी प्रकार मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ पर रहे, और ध्येय को प्राप्त करे। लोभवृत्तियां कम करके, उपाधियों को ओछी करके कुछ सुखी जिंदगी व्यतीत करे, यही व्रतों का खास हेतु है। संसार में रहते हुए भी, कुछ न कुछ करना तो जरूरी ही है। इसीलिये जैनधर्म में गृहस्थों के लिये १२ व्रत दिखलाये हैं।

बारहव्रत

१ स्थूल प्राणातिपातविरमणव्रत, २ स्थूल मृषावाद विरमणव्रत, ३ स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत, ४ स्थूल मैथुन विरमणव्रत, ५ स्थूल परिग्रह विरमणव्रत, ६ दिग्व्रत, ७ भोगोपभोग विरमणव्रत ८ अनर्थदंड विरमणव्रत, ९ सामायिकव्रत, १० देशावकासिक व्रत, ११ पौषधव्रत और १२ अतिथिसंविभागव्रत।

इन बारह व्रतों में प्रारम्भ के पांच 'अणुव्रत' कहे जाते हैं। 'अणु' माने छोटा। क्योंकि साधुओं के 'महाव्रतों' की अपेक्षा गृहस्थों के

व्रत बहुत अल्प हैं। बाद के ६ से ८ ये तीन 'गुणव्रत' कहे जाते हैं। क्योंकि पांच अणुव्रतों को ये उपकारी होते हैं। सहायक होते हैं। और अन्तिम ४ 'शिक्षाव्रत' कहे जाते हैं। 'शिक्षाव्रत' इसलिये के प्रतिदिन अभ्यास करने योग्य व्रत हैं।

जो गृहस्थ-श्रावक इन बारह व्रतों को ग्रहण करता है,-नियम करता है और उसका पालन करता है, वह गृहस्थाश्रम में रहते हुए बहुत पापों से बच जाता है। उसके ऊपर कभी राजकीय आफत नहीं आती। उसका चित्त भी स्थिर रहता है और संतोष से-सुख से जिंदगी व्यतीत करता है। जो गृहस्थ पूरे बारह व्रतों को अङ्गीकार न कर सके, वह इनमें से कोई भी, जो अपने से पल सकते हों, १-२-४-६-८ कितने भी ग्रहण कर सकता है।

इन व्रतों के अङ्गीकार करनेवाले मनुष्य को पहले सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए अर्थात् देव, गुरु और धर्म पर सम्पूर्ण श्रद्धा-यकीन रखना चाहिए।

अब इन बारह व्रतों का संक्षेप से विवेचन करेंगे।

१ स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत— इसमें इतने शब्द हैं-स्थूल+प्राण+अतिपात+विरमण+व्रत। इसका अर्थ है-स्थूल जीवों की हिंसा से दूर रहेने का व्रत।

जीवों के दो भेद पहले दिखलाये हैं १ स्थावर और २ त्रस। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय—इन पांच एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा से गृहस्थों का बचना सर्वथा कठिन ही नहीं, बिलकुल असंभवित है। इसलिए स्थूल-त्रस जीवों की हिंसा का त्याग गृहस्थ करे, परन्तु गृहस्थों को खेती करनी पडती है, मकान बनाने पडते हैं। इत्यादि अनेक प्रकार के आरम्भ समारम्भ के कार्य गृहस्थों को करने पडते हैं, उनमें बेइन्द्रियादि जीवों की हिंसा भी संभवित है। यद्यपि गृहस्थ का इरादा उन जीवों की हिंसा करने का नहीं है, तथापि बिना इरादे भी हिंसा तो हो ही जाती है। इसलिये गृहस्थों के लिए यह प्रथम व्रत इस प्रकार का बतलाया है-'निरागस-

मजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत्।" निरपराधी त्रस जीव को, इरादा पूर्वक-संकल्प पूर्वक-मारने के इरादे से न मारे।

इसमें दो बातें खास करके ध्यान में रखने की हैं.

एक तो यह है कि-यद्यपि इसमें स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग नहीं किया है, परन्तु पानी, वनस्पति आदि के जीवों की निरर्थक हिंसा न हो, उसका ख्याल तो रखना ही चाहिए।

दूसरी बात यह है कि-इसमें निरपराधी जीवों की हिंसा का त्याग बताया है, इसलिए यह नही समझना चाहिये कि वीछू, सांप, शेर, खटमल, जू आदि जीव हमारे अपराधी हैं और अपराधी समझ करके उसको मारा जाय। खरी बात यह है कि संसार का कोई जीव, मनुष्य का अपराध नहीं है। सांप, वीछु, शेर आदि जानवर तो खुद ही मनुष्य से इतने डरते हैं कि वे मनुष्य से छिपकर ही रहना चाहते हैं। जहाँ २ मनुष्यों की आवादी होती है, वहां २ से वे दूर ही चले जाते हैं और जब तक वे

किसी दबाव में, भय में, आफत में नहीं आते, अथवा वे गभराते नहीं, तब तक मनुष्य पर कभी हमला नहीं करते। उन बेचारे निर्दोष जीवों को अपराधी समझकर उनकी जान लेना, यह मनुष्य का भयङ्कर अत्याचार है गुन्हा है। इसी गुन्हा की सजा, मनुष्य लोग अनेक प्रकार की बीमारियाँ, भूकम्प, जलप्रलय, आग आदि के द्वारा, पाते हैं। जो मनुष्य शुद्ध अहिंसा का-शुद्ध दया का पालन करता है, उसको कोई जीव तकलीफ नहीं देता। इसलिए 'निरपराधी' विशेषणका दुरुपयोग नहीं करना चाहिए।

'निरपराधी' विशेषण इसलिए दिया है कि मानो कोई मेजिस्ट्रेट है और एक 'खून' का गुन्हेगार उसके सामने आया। कानून की दृष्टि से उसको फांसी की सजा करनी है। उस समय उस अपराधी को दंड करना, सजा करना, उस मेजिस्ट्रेट के लिए लाजमी है। इसी प्रकार कोई दुष्ट आदमी किसी बहन बेटी के ऊपर अत्याचार करता है, चोरी करता है, तो उस समय वह अपराधी समझा जायगा, और उसके अपराध की सजा कराना गृहस्थ के लिये अनुचित नहीं समझा जायगा।

२ स्थूलमृषावादविरमणव्रत—होना तो यह चाहिये कि सूक्ष्म से सूक्ष्म असत्य भी नहीं बोलना चाहिये, परन्तु जो लोग उतना नहीं पालन कर सकते हैं, उनके लिए स्थूलमृषावाद-झूठ का त्याग करने का व्रत दिखलाया है। शास्त्रकार कहते हैं और अनुभव से भी ज्ञात होता है कि अन्य व्रतों का पालन करना जितना कठिन काम नहीं है, उससे कई गुना अधिक इस व्रत के पालन करने का काम है। क्रोध, लोभ, भय और हास्य- इन चार कारणों से मनुष्य झूठ बोलता है और ये चारों बातें ऐसी हैं कि जिनका छोडना बहुत ही कठिन है। इसलिए मनुष्य बहुत सावधान रहे और अपने जीवन की कुछ कीमत समझे, तब ही वह झूठ से बच सकता है। जो गृहस्थ सर्वथा झूठ का त्याग नहीं कर सकता है, उसको भी इन पांच बातों में तो कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये:-

(१) वर-कन्या सम्बन्धी। किसी युवक-युवती का विवाह-संबन्ध होता हो, उस समय पुरुष में या स्त्री में जिस २ प्रकार के गुण-दोष हों, शरीर सम्बन्धी रङ्ग-ढङ्ग-अङ्ग-उपाङ्ग जिस प्रकार के हों,

वैसा ही कहना चाहिये। ऐसा नहीं कि हो कैसा और बतावे उससे उलटा। ऐसा झूठ कभी नहीं बोलना चाहिए।

(२) पशु सम्बन्धी—हाथी, घोडे, गाय, बैल, भैंस आदि जानवरों का क्रय,-विक्रय होता हो, तो उस समय उसके विषय में भी झूठ न बोले। दूध न देता हो और दूध देता है, ऐसा कहे। जानवर बुढा हो और जवान है, ऐसा कहे। यह भयङ्कर झूठ है, ऐसा झूठ कभी न बोले।

(३) भूमि संबन्धी—घर हवेली, बाग, बगीचा, खेत आदि संबन्धी झूठ न बोले। अर्थात् अपना हो और दूसरे का कहे, दूसरे का हो अपना कहे, ऐसा कभी नहीं करना चाहिए।

(४) थापणमोसा—विश्वास से किसी मनुष्य ने कोई चीज अपने यहां रखी हो, और फिर लेने को आवे, तब साफ इन्कार करदे, अथवा न्यून स्वीकारे। यह झूठ ही नहीं है, परन्तु बडा विश्वासघात है। ऐसा झूठ न बोले।

(५) झूठी गवाही—किसी के झगडे में झूठी साक्षी देना। बना है कुछ और कहना कुछ।

ऐसी झूंठी गवाही देनेसे एक पक्ष को बहुत नुकसान होता है। उसकी आत्मा को दुःख होता है। इसलिये झूंठी गवाही भी नहीं देनी चाहिये।

ये पाँच प्रकार के असत्यों का तो खास करके त्याग करना चाहिए।

३ अदत्तादानविरमणव्रत— नहीं दी हुई चीज को ग्रहण करना- लेना, उसका नाम है चोरी-इस चोरी के त्याग का व्रत। सर्वथा सूक्ष्म चोरी का त्याग नहीं करने वाले गृहस्थ को कम से कम स्थूल चोरी का तो त्याग करना ही चाहिए। चोरी करने की बुद्धि से किसी की चीज को उठा लेना उसका नाम है चोरी। रास्ते में गिरी हुई किसी की चीज उठा लेना, जमीन में गाढा हुआ किसी का धन निकाल लेना, किसी की थापण रक्खी हुई हडप कर जाना, किसी की चीज इरादा पूर्वक चोरी ले जाना- यह सब चोरियां ही हैं। किसी के मकान में खात डालना, किसी का ताला तोड करके माल ले जाना, किसी की गांठ काटना, दाण चोरी (कस्टम चोरी) करना, कम देना,

ज्यादा लेना, एवं जिससे राजदंड हो और लोक दृष्टि में अपमानित हो, ये सब चोरियां हैं, ऐसी कोई चोरी नहीं करना यह इसी व्रत का आशय है।

४ स्थूलमथुनविरमणव्रत—गृहस्थ स्वदारा संतोषी रहकर परस्त्री का त्याग करे, यह इस व्रत का अर्थ है। वेश्या, विधवा और कुमारी कोई भी स्त्री अर्थात् अपनी विवाहित स्त्री को छोडकर सभी स्त्रियों से सम्बन्ध न करे। माता बहिन और पुत्री समझे। इसी प्रकार स्त्रियोंके लिए भी, विवाहित पति को छोड, सभी पुरुष पिता, पुत्र और भाई है, ऐसा नियम रक्खे। 'स्वदारासंतोष' का मतलब यही है कि अपनी स्त्री के साथ भी मर्यादित संगत करे। स्वस्त्री के साथ भी मर्यादा का भंग करने वाला व्यभिचारी गिना जाता है। इसलिए स्वदारा संतोषी और परस्त्री का त्यागी गृहस्थ रहे।

५ स्थूलपरिग्रहपरिमाणव्रत— संसार के पदार्थों के ऊपर जितनी मूर्च्छा ज्यादा होती है, उतने ही असन्तोष, अविश्वास और हिंसा

आदि विशेष होते हैं और यही दुःख का कारण है, इसलिए परिग्रह में नियन्त्रण करना चाहिए। इच्छा का कोई ठिकाना है? उस इच्छा को नियम में रखना, मर्यादित बनाना, यही इस व्रत का हेतु है। धन, धान्य, सोना, चांदी, घर, खेत जमीन, पशु आदि जितने भी पदार्थ हैं, उनकी एक मर्यादा कर लेनी चाहीए और उस मर्यादा से अधिक मिलकत हो जाय, द्रव्य हो जाय, तो वह धर्मकार्यों में, परोपकार में व्यय करना।

अपरिग्रह या अल्पपरिग्रहव्रत आत्मा को शान्ति में रखता है, आफतों से बचाता है और समाजवाद को भी पुष्ट करता है। इससे परोपकार का परोपकार भी होता है।

६ दिग्व्रत—उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम वगैरह दिशाओं में जाने आने की मर्यादा बांधना अर्थात् इतने कोस तक जा सकता हूं, इससे अधिक नहीं। यह व्रत, लोभवृत्तियों पर अंकुश रखवाता है। और अनेक प्रकार की हिंसा से भी बचाता है।

७ भोगोपभोग परिमाण—संसार में पदार्थों का कोई अन्त नहीं है। सभी पदार्थ मनुष्य

काम में भी नहीं लाता है, तथापि, जब तक इच्छा का रोध नहीं किया है, तबतक उन चीजों का त्याग नहीं होता है। इसलिये जरूरत से ज्यादा चीजें काम में नहीं लाने का नियम करना, यह इस व्रत का आशय है

भोगोपभोग में दो शब्द हैं, भोग + उपभोग। जो चीज सिर्फ एक ही बार काम में आती है, वह भोग वस्तु है, और जो अनेक बार काम में आवे, वह उपभोग है। अनाज, पानी, विलेपन इत्यादि चीजें भोग हैं अर्थात् वही चीज दूसरी बार काम में नहीं आती। मकान, वस्त्र, आभूषण इत्यादि चीजें उपभोग हैं, एक की एक चीज अनेक बार काम में लाई जा सकती हैं।

इन चीजों का परिमाण निश्चित कर लेना चाहिये। इस प्रकार निश्चित नियम करने से तृष्णा पर जबरदस्त अंकुश आ जाता है। इच्छाओं को– तृष्णा को– चित्त की चंचलता को रोकने का उपाय ही यह है कि– हर किसी चीज का नियम करना।

थोड़े से थोड़ी और जरूरत से अधिक चीजों को क्यों काम में लाना चाहिए?

जब परिमित चीजों का इस्तेमाल करने की वृत्ति हो जायगी फिर मांस, मदिरा आदि अभक्ष्य और आत्मा का पतन करने वाली चीजों का त्याग तो अनायास ही सिद्ध है। अर्थात् जो चीजें अभक्ष्य हैं, उन चीजों को कभी काम में लेना नहीं चाहिए। उसका तो त्याग करना ही चाहिए।

आज संसार में इतनी बेकारी, इतना दुःख किस कारण से होते हैं। मनुष्य की इच्छाओं पर कोई अंकुश ही नहीं है। जिनके पास में द्रव्य है, वे निरर्थक कपडे तथा ऐसी ऐसी चीजों का प्रदर्शन अपने घर में बनाते हैं, जिनका कोई उपयोग ही नहीं, काम ही नहीं। फिजूल खर्ची कितनी बढ रही है? धर्मशास्त्रों के नियमों के भूलने का यह परिणाम देश में आया हुआ है। आर्थिक, आत्मिक और शारीरिक सब दृष्टियों से मनुष्य गिरता जाता है। यह भोगोपभोग विरमणव्रत एक ही ऐसा है कि मनुष्य को, बल्कि, सारे देश को सुखी बना सकता है।

इसी नियम की दृढता के लिए प्रतिदिन मनुष्य को चौदह नियम धारने के लिए कहा

गया है। ये चौदह नियम अगले प्रकरणमें बताये जायगे।

८ अनर्थदंडविरमणव्रत—विना प्रयोजन पाप बंध हो, ऐसी क्रियासे दूर रहना, उसका नाम है अनर्थदंडविरमणव्रत।

व्यर्थ खराब विचार करना—दुर्ध्यान करना, पापोपदेश देना, अनीति, अन्याय झूठ में प्रवृत्ति करना, शस्त्रादि उपकरण किसी हिंसक मनुष्य को देना, खेल-तमाशे देखना, हंसी-दिल्लगी करना—यह सब अनर्थदंड-निरर्थक पापाचरण के कार्य हैं। ऐसे कामों से दूर रहना।

९ सामायिक—सामायिक में सम+आय+इक-ये, तीन शब्द हैं। इसका अर्थ है 'जिससे मोक्षमार्ग का लाभदायक भाव उत्पन्न हो'। समस्त जीवों पर समान भाव-रागद्वेष रहित भाव को धारण करके, एकान्त स्थान में दो घड़ी (४८ मिनट) ध्यान में बैठना, उसका नाम है सामायिक। इस सामायिक में बैठकर के मनुष्य आत्मचिंतवन करे, मोह-ममत्व को दूर करे, समभाववृत्ति को धारण करे। चाहे कैसा भी

उपद्रव आ जाय, परन्तु चलायमान न होवे। संक्षेप में कहा जाय तो मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोक करके शुभ ध्यान में चित लगाकर बैठ जाना। सामायिक, यह दो घड़ी (४८ मिनिट) के लिए साधुवृत्ति है।

सामायिक क्या, ईश्वर का ध्यान करने के समय, भक्ति करने के समय, गुरु-सेवा के समय ऐसी हरएक शुभप्रवृत्ति के समय ऐसी बातों से बच करके यदि क्रिया की जाय, तो इससे, उस क्रिया का बहुत फल मिलता है। विधि और शुद्धि, विवेक और विनय यह प्रत्येक धार्मिक क्रिया में रखना चाहिए।

१० देशावकासिकव्रत—छठे व्रत में दिशाओं का जो परिमाण किया है, वह यावज्जीवन पर्यन्त का है। उसमें क्षेत्र की बहुत विशालता रक्खी होती है, परन्तु प्रतिदिन के लिए उसकी मर्यादा संक्षेप में की जाय, यह इस व्रत का आशय है अर्थात् दो हजार माइल तक जाने का नियम छठे व्रत में रक्खा गया हो, परन्तु किसी २ दिन देशावकासिकव्रत के पालने के लिए दो कोस, पांच कोस अथवा घर से बाहर

नहीं जाना, अथवा ५-७ घंटे तक एक ही स्थान पर बैठ कर ज्ञान-ध्यान करना, उठना नहीं, घर का काम काज करना नहीं, ऐसी भी प्रतिज्ञा की जा सकती है। उसको देशावकासिकव्रत कहते हैं। प्रारम्भ के स्थूलप्राणातिपातविरमण-व्रतादि ५ अणुव्रत में जो नियम किया है, उसका भी चार मास, एक मास, बीस दिन, पांचदिन, अहोरात्र, एकरात्रि- इस प्रकार संक्षेप भी इसी व्रत के अनुसार हो सकता है।

११ पौषधव्रत—धर्म को जो पुष्ट करे, उसका नाम है पौषध। १२-२४-४८ या जितनी इच्छा हो, उतने घण्टों के लिए सांसारिक प्रवृतियां को छोड करके, केवल साधुवृत्ति की तरह धर्मस्थान में बैठकर धर्मक्रिया में आरूढ रहना यह पौषधव्रत है। जितने समय का पौषध हो, उतने समय तक, सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना; स्नान, तैलमर्दन आदि किसी प्रकार का श्रृंगार न करना; वनस्पति, कच्चा पानी आदि सचित्त (जीव वाले) पदार्थ को न छूना; जिसमें हिंसा हो, ऐसी क्रिया नहीं करना और उपवास[1]

---

१ उपवास—सर्वथा आहार का त्याग।

आयंबिल, या एकाशन[२] की तपस्या करना, यह पौषध की खास क्रिया है।

१२ अतिथिसंविभागव्रत—जिन्होंने लौकिक पर्व उत्सवादिकों का त्याग किया है, वे अतिथि हैं। ऐसे अतिथि वे ही कहे जा सकते हैं, जिन्होंने आत्मा की उन्नति के लिए गृहस्थाश्रम का त्याग करके स्व-पर कल्याणक सन्यास-मुनिमार्ग को ग्रहण किया है। ऐसे मुमुक्षु-महात्माओं का अन्न, पाणी, वस्त्र आदि आवश्यक चीजों से सत्कार करना, यह अतिथिसंवि-

---

१ आयंबिल—दिन में एक ही वार भोजन लेना, एक स्थान पर स्थिर बैठ करके, और भोजन में घी, दूध, दहिं, गुड, तेल और तली हुई चीज तथा मुखवास, एवं अन्य कोई भी स्वादिष्ट चीज नहीं खाना। सिर्फ रूखी रोटी, और फीकी दाल खाना, उसको जैनधर्म में आयंबिल की तपस्या कहते हैं। गरम किया हुआ पानी पीना।

२ एकाशन—अभक्ष्य और अपेय को छोडकर कोई भी अचित्त पदार्थ खा सकते हैं। एक ही दफे एक आसन पर स्थिर बैठकर और गरम पानी पीना। इसको एकाशन कहते हैं।

भागव्रत का हेतु है। अपने उपयोग की चीजों में अतिथियों के लिए विभाग करने का जो व्रत, वह अतिथिसंविभागव्रत है।

साधुओं को और-क्या चाहिए? अन्न, पाणी और वस्त्र। गृहस्थ साल में या मास में एक दो चार दिन ऐसा रक्खे, कि जिस दिन साधु संतो को भिक्षा देकर ही भोजन करे। जिस दिन अतिथिसंविभागव्रत हो, उस दिन उसे ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि "आज मेरे यहां कोई साधु सन्त आवें और वे भिक्षा ले जायं, तब ही मैं भोजन करूंगा, यदि साधु सन्त न आवें तो आज मैं भोजन नहीं करूंगा"। ऐसी प्रतिज्ञा प्रातःकाल उठते ही करे। गांव में कोई साधु-सन्त हों, उनको भिक्षा के लिए प्रार्थना करे कि 'महाराज मेरे यहां भिक्षा के लिए पधारिये।' परन्तु यह जाहिर न करे कि 'मुझे अतिथिसंविभागव्रत है, आप भिक्षा को नहीं आवेंगे, तो मुझे उपवास करना होगा।' ऐसा कहना नहीं चाहिए।

यदि साधु-सन्तों की उस गांव में अविद्यमानता हो, तो किसी स्वधर्मी या कोई सुपात्र

योग्य पुरुष को निमन्त्रण करके अपने यहां ले जाय और उसको भोजन कराने के बाद भोजन करे। इस प्रकार गृहस्थों के बारह व्रत हैं।

—:१३:—

चौदह नियम

मनुष्य के काम में जितनी भी चीज आती हैं, उन सबके चौदह विभाग किये गये हैं। प्रातः काल उठते ही मनुष्य धार ले कि-मुझे आज कौनसी चीज कितनी काम में लानी चाहिये। बाकी सबका त्याग।

चौदह नियम ये हैः—

१ सचित्त— मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—इन चीजों में जीव है। जिन में जीव हो, वह सचित्त कहा जाता है, इसलिये नियम करे कि आज मुझे

—मिट्टी, निमक—वगैरह कितना काम में लाना।

—पीने, स्नान करने वगैरह के लिये पानी कितना काम में लाना।

—चूले आदि, जिसमें अग्नि जलायी जाय, वह कितना काम में लाना।

—पंखा, हिंडोला इत्यादि के लिये संख्या निश्चित करना।

—हरि वनस्पति का नियम करना कि इतने से ज्यादा काम में नहीं लायी जायगी।

२ द्रव्य—खाने पीने के पदार्थों की संख्या निश्चत करनी।

३ विगय—मांस, मदिरा, मधु, मक्खन-ये चार महाविगय-महाविकृति है, जिससे इन्द्रियों में विकार होता है, उसका सर्वथा त्याग। घी, तेल, दूध, दहि, गुड और तली हुई चीज-इन छे में से रोज १—२—३ जितनी हो सके, उतनी त्याग करना।

४ वानह— बूट, जूते, चंपल, मोजे की जोड़-इसकी संख्या निश्चित्त करना।

५ तंबोल—पान, सुपारी, इलायची आदि मुखवास की चीजों की संख्या मुकरर करना।

६ वस्त्र—कपड़े की संख्या मुकरर करना।

७ कुसुम—फूल, तेल, अत्तर, इसका परिमाण करना।

८ वाहन—गाड़ी, मोटर, घोडा, ऊंट, टांगा, नाव, हवाई जहाज आदि सवारी की संख्या निश्चित करना।

९ शयन—पलंग, आसन, गादी, तकिये आदि का नक्की करना।

१० विलेपन—चन्दन, तेल, अत्तर, साबुन इसका नक्की करना।

११ ब्रह्मचर्य—परस्त्री का त्याग, स्त्रियों के लिए परपुरुष का त्याग। स्वस्त्री (स्वपति) के लिए भी उस दिन के लिए जैसा विचार हो, ऐसा नक्की करना।

१२ दिशि—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे कितने कोस तक जाना, यह निश्चय करना।

१३ स्नान—दिन में कितनी वार स्नान करना।

१४ भत्त-भोजन—भोजन, पानी, दूध, शरबत आदि का वजन नक्की करना।

इन चौदह नियमों के अतिरिक्त—

असी—शस्त्र, औजार की संख्या नक्की करना।

मसी—दवात, कलम, होल्डर, पेन्सिल आदि की संख्या मुकरर करना।

कृषी—जमीन, बगीचा, वगैरह की बीघा संख्या।

ये नियम देखने में कठिन मालूम होते हैं, परन्तु अभ्यास करने से आसान होजाते हैं।

—:१४:—

गृहस्थों का दिनकृत्य

जैनधर्म कहता है कि गृहस्थाश्रम एक ऐसा आश्रम है कि जिसके ऊपर समस्त आश्रमों का आधार है। पवित्र गृहस्थाश्रमी उत्तम संस्कारी संतति उत्पन्न कर सकता है, जो ब्रह्मचर्याश्रम को सम्यक् रीत्या पालन कर सकता है। भुक्तभोगी, विद्वान् और सच्चरित्रशील गृहस्थ, वानप्रस्थाश्रम में जाकर समाज की सेवा अच्छी कर सकता है और वह सन्यस्त आश्रम में जाकर उत्तम चारित्रधारी होकर स्व-पर कल्याण कर सकता है। इसलिए गृहस्थाश्रम शुद्ध पवित्र होना चाहिए। अर्थात् गृहस्थों को भी अपना दिनकृत्य ऐसा रखना चाहिए कि जिससे यह लोक और परलोक दोनों सुधरे।

ब्राह्ममुहूर्त्त[1] में जागना, ईश्वरका ध्यान-प्रार्थना करना, प्रातःकाल को संध्या (जिसको

---

१ ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं जब चार घडी (१॥ घंटा) रात्रि बाकी हो, उस समय को।

जैनधर्म में प्रतिक्रमण[1] कहते है) करना, देव-दर्शन, गुरु-वन्दन, गुरु का उपदेश श्रवण, देव-पूजा, भोजन, व्यापार, सूर्यास्त के पहले व्यालू (शाम का भोजन), शाम की संध्या (प्रतिक्रमण) और शयन। यह गृहस्थों का कार्यक्रम होना चाहिए। रात्रि भोजन कभी न करना चाहिए। अहिंसा की दृष्टि से और तन्दुरस्ती की दृष्टि से भी गृहस्थ को रात्रिभोजन का त्याग रखना चाहिए।

मतलब कि गृहस्थ को अपना दिनकृत्य ऐसा बनाना चाहिए कि जिससे व्यवहार-दुनियादारी और आत्मा दोनों को लाभ हो।

इसीलिये गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करने के छे कर्तव्य मुख्यतया दिखलाये हैं। वे छे कृत्य ये है—

१ देवपूजा, २ गुरु-साधु-संत की सेवा, ३ स्वाध्याय, ४ संयम, ५ तप और ६ दान।

---

१ प्रतिक्रमण का अर्थ है पाप से पीछे हटना। किये हुए पापों का पश्चात्ताप और भविष्य में पाप नहीं करने को सावधान होना।

—: १५ :—

द या

जैनधर्म में 'दया' को प्रधान पद दिया गया है। सारे धर्म, इसी को अवलम्बन करके रहे हैं। दान, शील, तप, भाव, परोपकार आदि जितनी भी शुभ क्रियाएं होती हैं, उन सबका मूल दया है। इसीलिये तुलसीदास जी ने कहा है ' दया धर्म का मूल है "। जैन धर्म में तो कहा है कि 'धम्मस्स जणणी दया। धर्म की माता दया है'। दया के ऊपर ही सभी धर्मों का दारमदार है। लेकिन 'दया' के स्वरूप को समझना चाहिये। लोग 'दया' 'दया' करते हैं, परन्तु 'दया' क्या चीज है, यह समझते नहीं।

'अहिंसा' और 'दया' में बहुत अन्तर है। किसी जीव को तकलीफ नहीं देना, मारना नहीं, सताना नहीं, उसके दिल में चोट पहुंचाना नहीं यह अहिंसा है। लेकिन इस अहिंसा का पालन कौन कर सकेगा! जिसके हृदय में 'दया होगी वह। इसलिए 'दया' यह अन्तःकरण के 'भावों' का नाम है। दुःखी को देख करके अपने हृदय

में दर्द होना, यह दया। अथवा मेरी इस क्रिया से दूसरे को दुःख होगा, ऐसा विचार होना, उसी का नाम है दया।

'दया' एक ही प्रकार की नहीं है। जैन-शास्त्रों में ८ प्रकार की दया दिखलायी है:— १ द्रव्यदया, २ भावदया ३ स्वदया, ४ परदया, ५ स्वरूपदया, ६ अनुबंधदया, ७ व्यवहारदया और ८ निश्चयदया। इन आठों प्रकार की दया का स्वरूप यह है:—

१ द्रव्यदया—जो कुछ क्रिया करना, वह यत्नपूर्वक– उपयोगपूर्वक– विचारपूर्वक करना। क्रिया करने के समय यह ख्याल रखना कि— जहां तक हो सके इस क्रिया मे जीवहिंसा कम हो। छान करके पानी काम में लाना, अनाज को साफसूफ करके पकाना, रसोइ करने के समय लकडी आदि को बराबर देखना। थोडे से ख्याल रखने से जीवों की रक्षा होती हो, तो वह लाभ क्यों नहीं उठाना? थोडे से प्रमादके कारण दूसरे जीवों की हत्या क्यों होने देना? ऐसा भाव– विचार रखना, यह द्रव्य दया है।

२ भावदया— क्रोधादि कषायों को अथवा जीवहिंसादि पापकर्मों को करने वाले मनुष्य को अनुकंपाबुद्धि से हितोपदेश देना, इसका नाम है भावदया।

३ स्वदया— अपनी दया-अपने ही आत्मा की दया। यह आत्मा अनादिकाल से अंधकार में फंसा हुआ है। मिथ्यात्व- असत्याचरण, कषायादि दुर्गुण से घेरा हुआ रहता है। सत्यतत्त्व को पाता नहीं है, प्रभु की आज्ञा का पालन करता नहीं है। अशुद्ध प्रवृत्तियां करके अपने आपकी हिंसा करता है। ऐसा विचार करके दुर्गुणों से दूर रहेने की क्रोधादि कषायों को मन्द करने की और अशुभ कर्म के निदानों के दूर करने की चिंता करना, उसी का नाम है स्वदया।

४ परदया-पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय ये पांच एकेन्द्रियजीव, और त्रसकाय (बेइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चउरिन्द्रि पंचेन्द्रिय) इन छकाय—छ प्रकार के जीवों की रक्षा करनी, उन जीवों की हिंसा से जहां तक हो सके दूर रहना, उसका नाम है परदया।

५ स्वरूपदया—इस लोक और परलोक के वैषयिक सुखों की अभिलाषा से अथवा लोगों की देखादेखी जो दया की जाय, वह स्वरूपदया है। अर्थात् दया जरूर है परन्तु उसका फल निश्चित दायरे में बांध लेता है— सांसारिक अभिलाषाओं के लिये दया करता है— इसलिये उसको भले ही उसके फल स्वरूप सांसारिक सुख मिले, परन्तु सांसारिक सुख का मिलना, यह भी तो संसारवृद्धि का कारण होता है।

६ अनुबंध दया—देखने में हिंसा हो, परन्तु परिणाम में दया हो, तो वह अनुबंध दया है। गुरु, अपने शिष्य-शिष्या को हितबुद्धि से शिक्षा देता है। किसी को अनुचित कामों से रोकता है, कभी क्रोध भी कर लेता है, पिता, अपने पुत्र को सन्मार्ग पर रखने के लिये ताडन-तर्जन करता है, पुत्र को इससे दुःख होता है, परन्तु इसमें हिंसा नहीं है, दया है। अभिप्राय हिंसा करने का नहीं दया करने का है। डाक्टर आपरेशन करता है, रोगी रोता है, दुःखी होता है, परन्तु यह हिंसा नहीं, दया है

७ व्यवहारदया—विधि और उपयोग-ध्यान-ख्याल पूर्वक सब क्रियाएं की जाँय यह व्यवहार दया है।

८ निश्चयदया—आत्मा का जो शुद्ध साध्य है, आत्मा का विकास करना, उच्च श्रेणी पर चढ़ना-उस साध्य के विचार में-उपयोग में एकत्व भाव को धारण करना, तल्लीन हो जाना, अर्थात् अभेद उपयोग—उसी का नाम है भावदया।

इन आठों प्रकार की दया में अभयदान, अनुकंपा आदि सभी का समावेश हो जाता है।

—: १६ :—

ध्यान

जैनशास्त्रों में ध्यान का विषय भी महत्त्व का माना गया है। ध्यान का सामान्य अर्थ है विचार। अथवा मनकी प्रवृत्ति। मनुष्य मात्र का प्रतिक्षण ध्यान तो रहता ही है। परन्तु उसका विषय-उसका स्थान भिन्न २ है। किसी समय किस विषयका ध्यान रहता है, किसी समय किस विषय का। ऐसे जो विचार- जा ध्यान मनुष्य को होता है उसके चार भेद जैनशास्त्रों में दिखलाये हैं। १ आर्त्तध्यान, २ रौद्रध्यान, ३ धर्मध्यान और ४ शुक्ल ध्यान।

१ आर्त्तध्यान—

१ अप्रिय वस्तु की प्राप्ति होने पर उसके वियोग के लिये चिंता करना, यह अनिष्टसंयोग आर्त्तध्यान है।

२ दुःख आने पर उसके दूर करने का जो निरंतर विचार, वह रोगचिंताआर्त्तध्यान है।

३ प्रियवस्तु के वियोग होजाने पर उसकी प्राप्ति के लिए निरंतर चिंता करना, वह इष्टवियोगआर्त्तध्यान है।

४ नहीं प्राप्त होने वाली वस्तु की प्राप्ति के लिये निरंतर विचार करना यह निदान-आर्त्तध्यान है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो उपर्युक्त चार कारणों में से कोई न कोई कारण प्रत्येक व्यक्ति का अवश्य होता है। और उस कारण से विचार-चिंता अवश्य रहती है।

२ रौद्रध्यान—

हिंसा, असत्य, चोरी और विषय रक्षण के लिए जो निरंतर चिंता, वह रौद्रध्यान है। इसी पर से इसके हिंसानुबन्धी, अनृतानुबन्धी, स्तेयानुबन्धी और विषयसंरक्षणानुबन्धी ये चार भेद किये गये हैं।

जिस मनुष्य का चित क्रूर और कठोर बनता है, वह रुद्र कहा जाता है और उसकी आत्मा का जो ध्यान, वह रौद्रध्यान है।

३ धर्मध्यान—

जिससे आत्मिक लाभ हो, अन्तःकरण की शुद्धि हो, सन्मार्ग दर्शकता हो, इस प्रकार की चिंता-विचार, यह धर्मध्यान है। इसके भी चार भेद हैं—

१ प्रभु की आज्ञा क्या है? कैसी होनी चाहिए? इसकी परीक्षा करके, वैसी आज्ञा खोज निकालने के लिये जो मनोयोग दिया जाय, वह आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

२ अपने में जो दोष हों, उनके स्वरूप का और उसमें से छूटने का विचार किया जाय, वह अपायविचय धर्मध्यान है।

३ अनुभव में आने वाले कर्म के फलों में से, कौनसा फल, किस कर्म के कारण से होगा, उसका, तथा अमुक कर्म का, अमुक फल हो सकता है, इसका विचार करना, वह विपाक-विचय धर्मध्यान है।

४ लोक के स्वरूप का विचार करने के लिये जो मनोयोग दिया जाय, वह संस्थान-विचय धर्मध्यान है।

४ शुक्लध्यान—

शुक्ल ध्यान, तो जब आत्मा का मोक्ष होने वाला होता है, उसके लगभग में होता है। जिस समय आत्मा का मोह क्षीण हो जाता है। अथवा उपशान्त हो जाता है तब आत्मा को शुक्ल ध्यान हो जाता है। इसके भी चार भेद हैं-

१ पृथक्त्ववितर्कसविचार २ एकत्व वितर्कनिर्विचार, ३ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, ४ व्युपरतक्रियानिवृत्ति-समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति।

पृथक्त्ववितर्क विचार, यह मन योग, वचन योग, काय योग वाले को होता है।

एकत्ववितर्कनिर्विचार यह तीन में से किसी भी एक योग वाले को होता है।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति यह किसी भी काय-योगवाले को होता है।

व्युपरतक्रियानिवृत्ति, यह मन, वचन, काया के योग निवृत्त होने वाले- ऐसे अयोगी को होता है।

इस ध्यान के नामों में 'वितर्क' शब्द है, उसका अर्थ है श्रुत। और विचार का अर्थ है अर्थ, व्यंजन और योग की संक्रान्ति।

—: १७ :—

लेश्या

ध्यान के जैसा ही लगभग लेश्या का विषय है। समय समय पर जीवों के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। स्वभाव के परिवर्तन से, जैसे बाह्य आकृति में स्पष्ट फर्क दीखता है, उसी प्रकार से उसकी आन्तर स्थिति भी हो जाती है। एक मनुष्य जब क्रोध करता है, उस समय हम देखते हैं कि— उसके चेहरे में परिवर्तन हो जाता है। परन्तु साथ ही साथ क्रोध के समय में उसका मूंह भी खराब हो जायगा, और उसके हृदय में ऐसे ही कलुषित विचार उठेंगे।

जैसे स्फटिकरत्न के आगे जिस रंग की चीज रक्खी जाय, उसी प्रकार का रंग स्फटिक का दीखेगा। उसी प्रकार भिन्न २ संयोगों से आत्मा के परिणाम बदलते जाते हैं, उसी को जैनशास्त्रकारों ने लेश्या कहा है। लेश्या यह मनोयोग का भिन्न २ स्वरूप है। मानसिक आन्दोलन-आत्मिक परिणाम जैसे २ बदलते हैं,

वैसे ही उसका रूप- रंग बदलता जाता है। जैनशास्त्रकारों ने इन लेश्याओं के भी रंग बतलाये हैं। उन रंगों पर से ही लेश्याओं के छे नाम रक्खे हैं—

१ कृष्ण लेश्या— जिस समय आत्मा के परिणाम अंजन, भ्रमर, कोकिल के रंग जैसे काले हो जाते हैं, उस समय के भाव को कृष्ण लेश्या कहते हैं।

२ नील लेश्या— जिस समय आत्मा के परिणाम तोते का पिच्छ, मयूर का कण्ठ, और नील कमल जैसा होता है, उसी समय के भाव को नील लेश्या कहते हैं।

३ कापोत लेश्या— शण का पुष्प और बेंगन के पुष्प के जैसा आत्मपरिणाम हो, उस समय के भाव को कापोत लेश्या कहते हैं।

४ तेजो लेश्या—उदयमान सूर्य और संध्या जैसे रंग वाले आत्मपरिणाम के भाव को तेजो लेश्या कहते हैं।

५ पद्म लेश्या—कणेर और चम्पा के पुष्प जैसे रंग वाले आत्मपरिणाम के भाव को पद्म लेश्या कहते हैं।

६ शुक्ल लेश्या—गाय का दूध और समुद्र फेन- उसके जैसे आत्मपरिणाम के भाव को शुक्ल लेश्या कहते हैं।

प्रथम की तीन लेश्याएं अप्रशस्त (खराब) हैं, पिछली तीन प्रसस्त (अच्छी) हैं।

आधुनिक विज्ञान भी इस बात को स्वीकार करता है कि आत्मा में जो २ विचारों का आन्दोलन होता है, उसका भी रंग होता है। क्रूर विचार करने वाले के हृदय में काले रंग के मोजे उठते हैं।

जैसे २ मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ- इन कषायों में विशेष तल्लीन होता जाता है, वैसे २ उसकी लेश्याएं विशेष मलीन होती जाती हैं।

जैनशास्त्रों में इस लेश्या को— मानसिक परिणामों की कोमलता, तीव्रता, तीव्रतरता, तीव्रतमता समझने के लिये एक वृक्ष के ऊपर लगे हुए फल को लेने की इच्छा वाले छे मनुष्यों का उदाहरण दिया गया है।

जैनधर्म

(खंड ३)

—: ११ :—

जीव

संसार के जितने भी पदार्थ हैं, उन सबको जैनसिद्धान्त में नव विभाग में विभक्त किया गया है। जिनको 'नवतत्त्व' कहते हैं। संसार के सारे पदार्थ दो विभाग में भी विभक्त हो सकते हैं—चेतन और जड़। परन्तु विस्तृत रूप से समझने के लिए इसका नवभेद भी किया है— १ जीव, २ अजीव, ३ पुण्य, ४ पाप, ५ आश्रव, ६ संवर, ७ बंध, ८ निर्जरा और ९ मोक्ष। इसमें सबसे पहला जीव है। इसको 'आत्मा' भी कहते हैं।

जैनसिद्धान्त में इसका लक्षण बताया है- 'चेतनालक्षणो जीवः' जिसमें चेतनता हो, चैतन्य हो, उसका नाम है जीव। इसका विशेष लक्षण यह है कि—

भिन्न २ प्रकार के कर्मों को करने वाला, कर्म के फलों को भोगनेवाला, कर्मों के कारण से भिन्न २ गतियों में जाने वाला, और समस्त

कर्मों को दूर करके निर्वाण पद को – मोक्षपद को — परमात्मा पद को प्राप्त करने वाला आत्मा है, जीव है। प्राणों के धारण करने से वह प्राणी भी कहलाता है।

जीवों के मुख्य दो भेद हैं—संसारी और मुक्त। जो जीव कर्मों के आवरण करके युक्त हैं वे सब संसारी जीव हैं।

१ प्राण दश माने गये हैं—५ इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय), ३ बल (मनोबल, वचनबल, कायबल), १ श्वासोच्छ्वास और १ आयुष्य—कुल १० प्राण हैं।

—एकेन्द्रिय जीवों को स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये चार प्राण हैं।

—दो इन्द्रियजीवों को—उपर्युक्त चार के उपरांत रसनेन्द्रिय और वचनबल अधिक होने से ६ प्राण हैं।

—त्रीन्द्रियजीवों को घ्राणेन्द्रिय होने से ७ प्राण।

—चतुरिन्द्रियजीवों को चक्षुरिन्द्रिय होने से ८ प्राण।

—असंज्ञिपंचेन्द्रियजीवों को श्रोत्रेन्द्रिय अधिक होने से ९ प्राण

और

—संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवोंको मन अधिक होने से १० प्राण होते हैं।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक — इन चारों गतियों में परिभ्रमण करने वाले जीव संसारी जीव कहे जाते हैं, और समस्त कर्मों का क्षय करके जिन्होंने मुक्तावस्था प्राप्त की है, वे मुक्त अथवा सिद्ध जीव हैं। दोनों प्रकार के जीव अनादि अनन्त हैं। न वे कभी उत्पन्न हुए, न उनका कभी नाश होने का। जो मुक्तावस्था को प्राप्त हुये हैं वे सब एक स्वभाव के—एक ही स्वरूप के हैं। क्योंकि स्वस्वरूप में आने पर कोई भेद नहीं रहता। संसारी जीव भिन्न भिन्न अवस्था के और स्वरूप के हैं। इसका कारण कर्म है— उसके ऊपर लगे हुए आवरण हैं।

अब जो संसारी जीव हैं उसके दो भेद हैं— १ स्थावर और २ त्रस।

स्थावर वे जीव हैं जिनको एक मात्र शरीर ही होता है। और यद्यपि उसमें हलन-चलन की क्रिया प्रत्यक्षरूप से दिखाई नहीं देती, फीर भी उसमें आहार संज्ञा, भय संज्ञा मैथुन संज्ञा और परिग्रह (ग्रहण करनेकी शक्ति) संज्ञा पायी जाती है। इन स्थावर के

पांच भेद हैं:-पृथ्वीकाय. अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इस वैज्ञानिक जमाने में तो सूक्ष्मदर्शकादि यन्त्रों द्वारा पृथ्वी (मिट्टी आदि), पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति में भी जीव का होना प्रत्यक्ष कर दिखलाया गया है।

त्रसजीव वे हैं जिनको दो, तीन, चार या पाँच इन्द्रिय होती है। जो स्वयं चल फिर सकते हैं।

कृमि, गंडोला, जोक सुंडी इत्यादि जीव दो इन्द्रिय वाले है। चींटी, जू, ढोरा, सुसरी इत्यादि जीव तीन इन्द्रिय वाले हैं। माखी, भ्रमर, बिच्छू इत्यादि जीव चार इन्द्रिय वाले हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, नारकी ये जीव पांच इन्द्रिय वाले हैं।

समझना चाहिये कि जिसको एक ही इन्द्रिय होती है, उसको सिर्फ शरीर ही होता है। मुंह वगैरह नहीं होते। फिर भी उनमें ग्रहण शक्ति होने से अपने आहार को ग्रहण करते हैं। जैसे वनस्पति, अपना आहार जमीन में से

रस को चूस लेती है। अग्नि का आहार वायु है। वह जितना चाहे उतनी वायु ग्रहण करता है। यदि उसको अपनी खुराक न मिलेगी, तो वह मर जायगा। दीपक के ऊपर कांच का ग्लास ढक दीजिये, हवा मिलनी बन्द हो जायगी, तो फौरन बन्द हो जायगा। अग्नि पर धूल या पानी का मारा चला दीजिये, बन्द हो जायगा क्योंकि अपनी खुराक-हवा मिलनी बन्द हो गई।

दो इन्द्रिय वाले जीवों को शरीर और मुख होता है, तीन इन्द्रिय वाले को शरीर, मुख और नाक होती है, चार इन्द्रिय वाले को शरीर, मुख, नाक और आंख होती है और जिसको इन चार के उपरांत कान भी होते हैं, वे पांच इन्द्रिय वाले हैं।

स्थावर जीव के दो भेद हैं—सूक्ष्म स्थावर और बादर स्थावर।

इन स्थावर और त्रस-दोनों प्रकार के जीव समुच्चय रूप से छ पर्याप्ति वाले होते हैं। छ पर्याप्ति ये हैं-१ आहार पर्याप्ति, २ शरीर

पर्याप्ति, ३ इन्द्रिय पर्याप्ति, ४ श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति ५ भाषा पर्याप्ति और ६ मनःपर्याप्ति ।

पर्याप्ति एक शक्ति विशेष का नाम है । जिस शक्ति से आहार ग्रहण किया जाय, वह आहारपर्याप्ति, जिस शक्ति से शरीर की रचना हो, वह शरीरपर्याप्ति । इसी प्रकार सब शक्तियों का समझना चाहिये । जिन जिवों को ये छ शक्तिएं अपूर्ण होती हैं, उन जीवों को अपर्याप्त कहते हैं ।

स्थावर जीवों में प्रारंभ की चार—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास— पर्याप्तिएं होती हैं ।

दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय वाले जीवों को, मन को छोड, पांच पर्याप्तिएं-होती है ।

पंचेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं- १ संज्ञी पंचेन्द्रिय और २ असंज्ञी पंचेन्द्रिय । संज्ञा कहते हैं मनको । जिसको 'मन' नहीं होता है उसको 'असंज्ञी' कहते हैं । असंज्ञी पंचेन्द्रिय

को ५ पर्याप्ति और संज्ञी पंचेन्द्रिय को ६ पर्याप्तिए होती हैं।

जैनशास्त्रों में इन जीवों के भेदानुभेदों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया गया है। स्थावर और त्रस— दोनों के १४ भेद भी दिखलाये हैं। ५६३ भेद भी दिखलाये हैं, और अनन्त भेद भी कहे हैं। मध्यम स्थिति के जो ५६३ भेद दिखलाये हैं वे इस प्रकार हैं—

१४ भेद नरकवासियों के, ४८ भेद तिर्यञ्चगतिवालों के, ३०३ भेद मनुष्यगति वालों के, १९८ भेद देवगति वालों के। सब मिल ५६३

—: १९ :—

अजीव

जीव के जो लक्षण दिखलाये हैं वे लक्षण जिसमें न हों, उसका नाम है अजीव। जिसमें ज्ञान न हो, चेतनता न हो, कोई कर्म न हो, न कर्त्ता हो। जड स्वरुप हो, उसका नाम है अजीव।

संसार में ऐसे अजीव-जड पदार्थ जितने भी है, उन सबको जैनशास्त्रकारों ने पांच विभागों में विभक्त किये हैं, जिनके नाम ये हैं:—

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्‌गलास्तिकाय और काल। इन पांचों में जीवास्तिकाय के मिलाने से सारे संसार में ६ द्रव्य माने जाते हैं।

अस्तिकाय क्या चीज है? अस्ति+काय। 'अस्ति' का अर्थ है प्रदेश और 'काय' का अर्थ है समूह। अर्थात् प्रदेशों का समूह, उसका नाम है अस्तिकाय। अब 'प्रदेश' क्या चीज है, यह भी समझना चाहिये। 'प्रदेश' और 'परमाणु'

में विशेष अन्तर नहीं। 'परमाणु' जब तक अवयवी-वस्तु पदार्थ के साथ संबद्ध हो, तब तक वह प्रदेश' कहा जायगा और अवयवी से छूटा पडे तो वह 'परमाणु' कहा जायगा। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ का सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश। परंतु एक बात है। अन्य पदार्थों के प्रदेश अर्थात् सूक्ष्म अंश उन पदार्थों से जूदे हो सकते हैं—होते हैं; परन्तु धर्म, अधर्म, आकाश और आत्मा के प्रदेश एक दूसरे से इतने मिले हुए हैं, इस प्रकार के एकीभूत हैं, कि वे जूदे होते ही नहीं। इसीलिए धर्मास्तिकायादि पदार्थ अखंडद्रव्यात्मक पदार्थ माना गया है।

इन पदर्थों में से किसी के असंख्यप्रदेश हैं, किसी के अनन्त भी हैं और किसी के संख्यात भी हैं।

अब जिन २ शब्दों के साथ 'अस्तिकाय' शब्द लगाया गया है, उसका अर्थ यह करना चाहिए कि 'धर्म' नामक पथार्थ के प्रदेशों का समूह। 'अधर्म' नामक पदार्थों के प्रदेशों का समूह। 'आकाश' के पदार्थ का समूह। पुद्गल

के पदार्थों का समूह। 'काल' के साथ में 'अस्तिकाय' शब्द नहीं जोडा गया है। इसका कारण यह है कि भूतकाल है, यह तो नष्ट हुआ है, उसकी हस्ती ही नहीं है और जो भविष्यत्-काल है, वह तो इस समय असत् है: पदार्थ ही नहीं, और वर्त्तमानकाल, यह तो एक क्षण मात्र ही है। जो पदार्थ क्षणमात्र ही है, उसके प्रदेशों का समूह नहीं हो सकता। हां, १८वें प्रकरण में 'जीव' पदार्थ बतला चुके हैं, उस 'जीव' पदार्थ के साथ में 'अस्तिकाय' (प्रदेशों का समूह) शब्द अवश्य लगाया जाता है। क्योंकि जीव के असंख्यात प्रदेशों का समूह रहा हुआ है। यही कारण है कि जीव शरीर में व्याप्त रहता है।

अब इस बात का विचार करें कि ये पांच प्रकार के 'अजीव' पदार्थ दिखलाये हैं, वह क्या है? उसका स्वरूप क्या है?

१ धर्मास्तिकाय-धर्म से यहां, जिससे पुण्य होता है, आत्मकल्याण होता है यह पदार्थ नहीं समझने का है। इस संसार में-सारे लोका

काश में एक ऐसा पदार्थ व्याप्त हो करके रहा है जो गति करते हुए जीवों को और गति करते हुए जड पदार्थों को सहायक होता है। जैसे वैज्ञानिक लोग इथर नाम के एक पदार्थ को मानते हैं, उसी प्रकार, अथवा उससे कुछ विभिन्नता रखता हुआ, एक पदार्थ सारे लोक में भरा हुआ है, जिसकी सहायता से जीवों को और जड पदार्थों की गति होती है। उसका नाम जैनशास्त्रों में 'धर्मास्तिकाय' दिया है। 'मच्छी' में जीव है, चलने फिरने की ताकत है, परंतु उसकी गति में 'पानी' सहायक है। पानी की सहायता के सिवाय मच्छी चल नहीं सकती। इसी प्रकार प्रत्येक जीव और जड पदार्थ की गति में सहायक यह 'धर्मास्तिकाय' नाम का पदार्थ है।

२ अधर्मास्तिकाय। जैसे गति करने में सहायक 'धर्मास्तिकाय' है, उसी प्रकार जीव और जड़पदार्थ की स्थिति होने में सहायक यह 'अधर्मास्तिकय' नाम का पदार्थ है। चलने फिरने और स्थिर होने में जीव और जड़पदार्थ स्वतंत्र रहते हुए भी 'सहायक' के तौर पर अन्य पदार्थ की अपेक्षा रहती है। यह बात तो

वैज्ञानिक भी कहते हैं। जैनशास्त्रकारों ने इनको 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' कहा है।

३ आकाशास्तिकाय। 'आकाश'–अर्थात् जो अवकाश दे, जगह दे, उसका नाम है आकाश। इस आकाश के दो विभाग हैं:—१ लोकाकाश और २ अलोकाकाश। 'आकाश' जैसे व्याप्त पदार्थ के दो विभाग बतलाने का हेतु ऊपर बताये हुए धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो पदार्थ हैं अर्थात् जहाँ तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो पदार्थ हैं, वहां तक का आकाश 'लोकाकाश' कहा जायगा। और जहां उन दो पदार्थों का अस्तित्व नहीं, उसको 'अलोकाकाश' कहते हैं। जैनशास्त्रों में कहा है कि— समस्त कर्मों का क्षय करके जो जीव इस संसार से मुक्त होता है, वह उर्ध्वगति करके लोकाग्र में जाकर स्थित हो जाता है। क्योंकि लोकाग्र तक ही 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' नामक पदार्थ है। उसके आगे नहीं। और इसलिये उसकी गति भी नहीं। परिणामतः यह निश्चय हुआ कि— अलोकाकाश में न कोई जीव है, न कोई परमाणु पुद्गल है।

अर्थात् सिवाय उस 'आकाश' के और कोई भी चीज नहीं।

यदि 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के कारण से 'आकाश' के ये दो विभाग—'लोकाकाश' और 'अलोकाकाश'—न माने जाते, तो समस्त कर्मों का क्षय करके संसार से मुक्त होने वाले 'आत्मा' की गति कहां जाकर अटकती-स्थिर होती? इसका निर्णय नहीं हो सकता था।

४ पुद्गलास्तिकाय। परमाणु से लगा करके जितने भी छोटे बड़े रूपी पदार्थ हैं, वे सब 'पुद्गल' कहे जाते हैं। जैसे परमाणुओं को 'पुद्गल' कहा जाता है, वैसे परमाणुओं के जो दृश्यमान पदार्थरूप कार्य हैं, वे सब पुद्गल हैं। बहुत से पदार्थ नहीं देखे जाते हैं, तोभी वे परमाणुओं के समूहरूप कार्य हैं, अर्थात् वे भी 'पुद्गल' हैं। जैसे शब्द – आवाज। दो चीजों के संघर्षण से- टकराने से जो आवाज-शब्द निकलता है, वह भी पुद्गल है। ढोल, नगाड़ा या किसी भी वाद्य से निकलने वाला शब्द, एवं बोलने के समय मुंह से निकलने वाला शब्द— ये सब पुद्गल हैं। पूरण होना,

मिलना. जुदा होना, ये सब पुद्गल का स्वभाव है। गंधपदार्थों की तरह वायु की अनुकूलता के अनुसार वह फैल जाता है। यही कारण है कि शब्द, चाहे वह मनुष्य के मुंह से निकला हो. चाहे किसी वाद्य आदि से निकला हो, वह सब पुद्गल है। ग्रामोफोन के रेकार्ड, टेलीफोन, वायरलेस, रेडियो इत्यादि आधुनिक यंत्रों ने हमें शब्दों का 'पुद्गल' होना सिद्ध कर दिखलाया है। यदि शब्द - आवाज पुद्गल न होता. तो इन यन्त्रों के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर कभी नहीं पहुंच सकते। रेकार्ड में ये शब्द कभी नहीं भरे जा सकते थे। ढाई हजार वर्ष पूर्व, जब कि ऐसे कोई आविष्कार नहीं थे, उस समय भगवान् महावीर देव ने अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष करके ये बातें दिखलाई थी. जो कि— इस वैज्ञानिक जमाने में प्रयोगों द्वारा प्रत्यक्ष हो रही हैं। शब्द की तरह छाया—धूप—अन्धकार इनको भी जैनशास्त्रों में पौद्गलिक माना है।

'परमाणु' प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु परमाणु का कार्य- समूहरूप जो पुद्गल बनता है, वह

उसका– परमाणु का लिंग है। यह प्रत्यक्ष होता है।

यह सारा जो जडजगत् दीखता है, वह सब परमाणुओं का कार्य– अर्थात् पुद्गल है। यह परमाणु, द्रव्यरूप से तो अनादि अनन्त है– अर्थात् न उसकी आदि है, न उसका नाश होता है; परन्तु पर्यायरूप में वह सादि है, और सान्त भी है। अर्थात् परमाणुओं के समूहरूप कार्य वह सादि है, और उसका नाश भी होता है, अर्थात् जो पुद्गल बनता है, उसका नाश अवश्य होता है, जैसे यह शरीर है, यह पुद्गल है, इसका नाश होगा, परन्तु उसका परमाणुरूप द्रव्य दूसरे आकार में कायम रहेगा।

५ काल। काल यह एक प्रसिद्ध वस्तु है। प्रत्येक वस्तु में रूपान्तर होना, परिवर्तन होना, यह सब काल का परिणाम है। नयी वस्तु पुरानी होती है, पुरानी का नाश होता है। मनुष्य छोटे से बडा, बडे से वृद्ध, और वृद्ध से मृत्यु को प्राप्त होता है, यह सब काल का प्रभाव है। भूत, वर्तमान और भविष्य के भेद

ये सब काल के ही भेद हैं। क्षण, सेकण्ड, मिनिट, घंटे, दिन, पक्ष, मास, संवत्सर, युग यह सब काल के ही भेद हैं। जैन शास्त्रों में जगत् की प्रवृत्ति निवृत्ति में जो पांच कारण माने गये हैं, उसमें काल भी एक कारण है। काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और कर्म-इन पांच कारणों से प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति होती है। उसका वर्णन आगे करेंगे।

काल के साथ में 'अस्तिकाय' क्यों नहीं लगाया गया? यह प्रारंभ में दिखलाया गया है।

ये पांच द्रव्य-पदार्थ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, और काल अजीवतत्त्व माने गये हैं। इन पांचों में सारे संसार के अजीव पदार्थों का समावेश हो जाता है।

—: २० :—

पुण्य

इस संसार में जन्म धारण करके मनुष्य दो प्रकार की क्रियाओं को करता है- शुभ और अशुभ। अच्छी और बुरी। संसार की जो विचित्रता देखी जाती है अर्थात् कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई राजा, कोई रंक, कोई स्वामी, कोई सेवक, कोई सैकड़ों का पालन करता है, कोई अपना भी पेट नहीं भर सकता है, कोई शरीर से हमेशा नीरोगी रहता है, कोई जन्म से मृत्यु पर्यन्त बीमार ही बीमार रहता है। कोई बिना मेहनत से अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है, कोई हजार प्रयत्न करने पर भी निष्फल ही निष्फल होता है। संसार की ये सारी बातें जिसके परिणाम से होती हैं, उसको पुण्य और पाप कहते हैं।

मनुष्य मानसिक, वाचिक, कायिक जो भी क्रिया करता है, उसके परिणाम स्वरूप शुभ और अशुभ कर्मों का उपार्जन होता है। उन शुभ और अशुभ कर्मों का नाम है

पुण्य और पाप। अच्छा शरीर, धन, पुत्र, परिवार, इज्जत आदि जितनी भी अच्छी चीजें मिलती हैं, वे सब शुभ कर्मों से मिलती हैं और उसी का नाम है पुण्य। आत्मा को पवित्र करे, उसका नाम है पुण्य। जीव नव प्रकार के कार्य से पुण्य उपार्जन करता है:-१ अन्न देने से, २ पानी देने से, ३ स्थान देने से, ४ शय्या देने से, ५ वस्त्र देने से, ६ मनके शुभ संकल्प -विचार से, ७ वचन के शुभ संकल्प वाचा से, ८ काया के शुभ संकल्प -क्रिया से और ९, देव-गुरु को नमस्कार करने से।

साधु-संत, किंवा दीन दुखियों को अन्न का दान देनेसे पुण्योपार्जन होता है, जल-पान कराने से पुण्य होता है, वस्त्रों का दान करने से, स्थान देने से, आसन देने से, गुणीजन को देखकर मन में हर्षित होने से, वाणी द्वारा गुणी जनों की प्रशंसा करने से, शरीर से दूसरों की सेवा करने से, एवं गुणीजनों को नमस्कार करने से पुण्योपार्जन होता है।

जिस जीवने इन कार्यों के द्वारा पुण्योपार्जन किया होता है, वह इस संसार में अनेक

प्रकार के फलों को भोगता है, जैसे:—

शारीरिक सुखका मिलना, उच्च गोत्र को प्राप्त करना, मनुष्यगति को पाना, देवगति को पाना, पाँचों इन्द्रिय अच्छी पाना, शरीर के सारे ही अंगोपांग अच्छे मिलना, शरीर भी जैसा चाहिए वैसा ही, न ज्यादा भारी न ज्यादा हलका, ऐसा पाना, रूप लावण्य अच्छा पाना शरीर में तेजस्वीपने को पाना, सुन्दर गति मिलना, मस्तकादि अवयव भी सुन्दर मिलना, अच्छा सौभाग्य प्राप्त करना, सुन्दर मधुर स्वर का मिलना, लोगों में आदरणीय होना, दुनियाँ में खूब नाम होना, बहुत बडे महात्मा होना, इत्यादि अनेक प्रकार की शुभ ही शुभ-अच्छी ही अच्छी सामग्रीओं का मिलना यह पुण्य का परिणाम है।

यह बात तो पहेले ही कही गई है कि पुण्य शुभ कर्मों का ही नामान्तर है। अच्छी अच्छी चीजें जितनी मिलती हैं, वे पुण्य से मिलती हैं। परन्तु यह भूलना नहीं चाहिये कि पुण्य का भी क्षय करने से ही मोक्ष मिलता

है। अर्थात् पुण्य यह भी एक तरह की बेड़ी है। माना कि यह सोने की बेड़ी है, परन्तु सोने की हो चाहे लोहे की, बन्धन अवश्य है। आत्मा का कार्य तो बन्धनों को तोड़ने का है।

: २१ :

पाप

जिस प्रकार मन, वचन, काया की शुभ प्रवृत्ति से 'पुण्य' उपार्जन होता है, उसी प्रकार मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियों से पापोपार्जन होता है। पुण्य से विपरीत पाप है। 'पुण्य' का परिणाम अच्छा-इष्ट होता है, पाप का परिणाम बुरा-अनिष्ट होता है। पाप अठारह प्रकार से उपार्जन किया जाता है—

१ प्राणातिपात—जीवों की हिंसा करना।

२ मृषावाद—झूठ बोलना।

३ अदत्तादान—चोरी करना।

४ मैथुन—ब्रह्मचर्य का भंग करना।

५ परिग्रह--वस्तुओं पर मूर्च्छा रखना।

६ क्रोध—गुस्सा करना।

७ मान—अभिमान करना। गर्व करना।

८ माया—कपट करना।

९ लोभ- वस्तुओं की अधिकाधिक संग्रहता आशाका वेग बढ़ाना।

१० राग--संसार की वस्तुओं पर प्रेम करना-आसक्ति करना।

११ द्वेष-- अनिच्छित वस्तुओं पर तिरस्कार बुद्धि रखना।

१२ कलह—जहां तहां क्लेश करना।

१३ अभ्याख्यान—वचन भग करना।

१४ पैशून्य---चुगली -चाड़ी खाना।

१५ रति-अरति—अच्छी लगती हो, वैसी चीज से खुश होना, और विपरीत वस्तु पर नाखुश होना।

१६ परपरिवाद--दूसरों की निन्दा करना।

१७ मायामृषावाद— कपट पूर्वक झूठ बोलना।

१८ मिथ्यात्वशल्य—हृदय में झूठे तत्वों का शल्य रखना।

इन अठारह कार्यों से मनुष्य पाप का उपार्जन करता है। इन पापों के परिणाम में अनेक प्रकार के दुःख और अनुचित वस्तुओं की प्राप्ति होती है।

चउभंगी—पुण्य और पाप के संबन्ध में जैनशास्त्र में चउभंगी (चार विभाग) दिखलायी है। वह यह है— १ पुण्यानुबन्धी पुण्य, २ पुण्यानुबन्धी पाप, ३ पापानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पाप।

१ पूर्वजन्म के जिस पुण्य के फल को भोगते हुए नया पुण्य उपार्जन हो, उसका नाम है पुण्यानुबन्धी पुण्य।

२ पूर्वजन्म के जिस पाप के फल को भोगते हुए, शान्ति-समभाव और पश्चात्तापादि द्वारा पुण्योपार्जन हो वह पुण्यानुबन्धी पाप है।

३ पूर्वजन्म के जिस पुण्य के फल को भोगते हुए, मदमस्त होकर नया २ पाप उपार्जन किया जाय, वह पापानुबन्धी पुण्य है।

४ पूर्वजन्म के जिस पाप के फल को भोगते हुए, आर्त्तध्यान-रौद्रध्यानद्वारा नया पाप उपार्जन किया जाय, वह पापानुबन्धी पाप है।

— २२ :—

आश्रव

जिसके द्वारा कर्म आवे, उसका नाम है आश्रव। जीवरूप तालाब में, कर्मरूप पानी, जिसके द्वारा आवे, उसी का नाम है आश्रव। अथवा यों कहना चाहिए कि जिससे कर्मबन्धन हो, ऐसे कामों का नाम है आश्रव।

आश्रव के भेद अनेक हैं, अर्थात् कर्मबन्धन कराने वाले काम संसार में अनेक हैं, परन्तु इन सब कामों का आधार मन, वचन और काया की प्रवृत्ति पर ही रहा हुआ है। क्योंकि मन, वचन, काया की यदि शुभप्रवृत्ति होती है, तो शुभकर्म उपार्जन होता है और मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति होती है तो अशुभ कर्मोपार्जन होता है। इसलिये मन, वचन, काया

की प्रवृत्ति यही आश्रव है, ऐसा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति या अनुचित नहीं है।

जैनशास्त्रों में आश्रव के ४२ भेद दिखलाये हैं।

५ अव्रताश्रव-हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन पांच का त्याग नहीं करना।

४ कषायाश्रव-क्रोध, मान, माया और लोभ रखना

५ इन्द्रियाश्रव—स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय इन पांच इन्द्रियों को नियम में नहीं रखना।

३ योगाश्रव—मन, वचन और काया के योगों को भोगादि विषयों में जाते हुए नहीं रोकना।

२५ क्रियाएं—पच्चीस क्रियाओं के नाम ये हैं-

१ कायिकी क्रिया—शरीर को, प्रमाद से, बिना विचार किये सक्रिय होने देना।

२ अधिकरणकी क्रिया—जिस से जीवों की हिंसा हो, ऐसे शस्त्र तैयार करना।

३ प्राद्वेषिकी क्रिया—जीव या अजीव पर द्वेषभाव से खराब विचार करना।

४ परितापकी क्रिया— जिससे खुद को और दूसरे को परिताप-दुःख हो, ऐसी क्रिया करनी।

५ प्राणातिपातकी क्रिया – एकेन्द्रियादि जीवों को मारना या मरवाना।

६ आरंभिकी क्रिया – बहुत आरंभ-समारंभ वाली-पापवाली क्रिया, अर्थात् जिसमें ज्यादा हिंसा होती हो, करनी।

७ परिग्रहकी क्रिया— धन धान्यादि वस्तुओं के ऊपर ममत्व रखना।

८ मायाप्रत्ययकी क्रिया - छल, कपट करके दूसरें को ठगना।

९ मिथ्यादर्शन प्रत्ययकी क्रिया— असत्य मार्ग का पोषण करते हुए जो क्रिया लगे।

१० अप्रत्याख्यानकी क्रिया— अभक्ष्य और अपेय वस्तुओं का त्याग नहीं करना।

११ दृष्टिकी क्रिया—सुन्दर वस्तु के देखने से उस पर राग का होना।

१२ पृष्ठीका क्रिया—स्त्री, घोडे, हाथी गाय या किसी सुन्दर चीज के ऊपर रागाधीन होकर स्पर्श करने की क्रिया करना।

१३ प्रातित्यकी क्रिया—दूसरे की ऋद्धि-समृद्धि देखकर ईर्ष्या करना।

१४ सामन्तोपनिपातकी क्रिया—अपनी ऋद्धि समृद्धि की कोई प्रशंसा करे, तब खुश होना, अथवा तेल, घी, दूध, दहीं आदि के भाजन खुले रखने से जो जीवों की हिंसा हो।

१५ नैशस्त्रकी क्रिया—राजादि के हुकम से दूसरे के पास यन्त्र-शस्त्रादि तैयार करवाना।

१६ स्वहस्तकी क्रिया— अपने हाथ से किंवा शिकारी कुत्तों आदि के द्वारा जीवों को मारना। अथवा अपने हाथ से क्रिया करने की जरूरत नहीं होने पर भी अभिमान से अपने हाथ से क्रिया करना।

१७ आनयनकी क्रिया— जीव अथवा अजीव के प्रयोग से कोई वस्तु अपने पास आवे, ऐसी कोशिश करना।

१८ विदारण की क्रिया— जीव अथवा अजीव वस्तु का छेदन भेदन करना।

१९ अनाभोगकी क्रिया— विना ख्याल किये शून्यचित्त से वस्तुओं को लेना, रखना, बैठना, उठना, चलना, फिरना, खाना, पीना वगैरह।

२० अनवकांक्षा प्रत्ययकी क्रिया— इसलोक एवं परलोक सम्बन्धी विरुद्ध कार्य का आचरण करना।

२१ प्रयोगकी क्रिया— मन, वचन, काया संबन्धी खराब विचार, उसमें प्रवृत्ति करना परन्तु निवृत्ति नहीं करना।

२२ समुदानकी क्रिया— कोई ऐसा कर्म किया जाय, जिससे [1]ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों का एकही साथ बन्ध हो।

---

१ इन कर्मों का वर्णन आगे आवेगा।

२३ प्रेमकी क्रिया— मोह गर्भित वचनों से अत्यन्त रागोत्पत्ति तथा प्रेम का प्रकर्ष होना।

२४ द्वेषकी— किसी के ऊपर द्वेष करना अथवा अन्य को द्वेष हो ऐसा कार्य करना।

२५ ईर्यापथिकी—प्रमाद रहित साधुओं को और कैवल्यज्ञानधारी भगवान् को गमनागमन-चलने फिरने से जो क्रिया लगे, वह।

आश्रव के ये ४२ भेद हैं। इन ४२ भेदों के भी तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव -आदि कारणों से अनेक भेदानुभेद किये जा सकते हैं।

—: २३ —

संवर

मन, वचन, काया की प्रवृत्तिरूप आश्रव से अथवा आश्रव के प्रकरण में दिखलाये हुये ४२ कारणरूप आश्रवों से उत्पन्न होने वाले कर्मों को रोकने वाले आत्मा के शुद्ध भावों का नाम है संवर। कर्म आता हुआ अटके, उसका नाम है संवर।

जैनशास्त्रकारों ने इस संवर के ५७ (सत्तावन) भेद दिखलाये हैं, अर्थात् ५७ तरीके से कर्मों का आना अटकाया जा सकता है। ५७ प्रकार ये हैं—

५ समिति	१२ भावना
३ गुप्ति	२२ परिषह
१० यतिधर्म	५ चारित्र

५ समिति—

१ इरियासमिति—चलने-फिरने की क्रिया के समय बराबर ख्याल रखना चाहिये, जिससे किसी जीव की हिंसा न हो।

२ भाषासमिति—बोलने के समय ध्यान रखना चाहिये, जिससे असत्य या किसी को दुःख हो, ऐसा शब्द न निकले ।

३ एषणासमिति—निर्दोष भिक्षा को ग्रहण करना ।

४ आदान निक्षेप समिति—अपने काम में आने वाली चीजों को लेना धरना हो, तो विचार पूर्वक लेना, रखना, जिससे किसी जीव को हानि न पहुंचे ।

५ पारिष्ठापनिकासमिति—थूक, शरीर का मल, अन्न-पानी वगैरह चीजों को ऐसे स्थान में रखना चाहिये जहाँ किसी जीव की हिंसा न हो ।

३ गुप्ति—

१ मनोगुप्ति—मन को गोपन करना, मन की चञ्चलता को रोकना अर्थात् बुरे विचारों को मन में नहीं आने देना ।

२ वचनगुप्ति—वाणी का निरोध करना, निरर्थक प्रलाप नहीं करना, मौन रहना । मुख, हाथ आदि शारीरिक चेष्टाओं से भी काम नहीं करना और जो बोलना, वह सत्य-प्रिय बोलना ।

३ कायगुप्ति—शरीर का गोपन करना, विना प्रयोजन शारीरिक क्रिया नहीं करना अर्थात् शारीरिक स्वच्छन्द क्रिया का त्याग और मर्यादित क्रिया का स्वीकार।

—: २३ :—

(२)

दश यतिधर्म

जैसे हिन्दुओं के मनुस्मृति मेंः—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेऽयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

यह दश प्रकार का धर्म कहा है। उसी प्रकार जैनधर्म में दश यतिधर्म कहे हैं। 'यति' कहते हैं साधु को। साधु-गुरु-त्यागी के क्या लक्षण हैं, यह पहले दिखलाया जा चुका है। ऐसे साधुओं के दश धर्म हैं।

१. क्षान्ति—क्षमा करना, शक्ति होते हुए भी दूसरे के अपराध को क्षमा करना, गम खाना, क्रोध को रोकना।

२ मार्दवता—कोमलता रखना। सत्ता, शक्ति ज्ञान आदि बढते-हुए भी निरहंकारीपना रखना।

३ ऋजुता—सरलता रखना। कपट-दम्भ-माया से दूर रहना।

४ मुक्ति—लोभवृत्ति से दूर रहना, इच्छाओं को रोकना।

५ तप—यथाशक्ति तपस्या करना। उपवासादि तपस्या से ईश्वर भजन ध्यान वगैरह अच्छा होता है, कर्मों का क्षय होता है, परंतु उपवास वह है जिसमें विषयों (पांच इन्द्रियों के विषयों) का, कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) का और आहार-भोजन का त्याग हो। उपवास के दिन इन तीन चीजों का त्याग अवश्य करना चाहिए। जैनशास्त्रों में १२ प्रकार की तपस्या दिखलायी है, जो आगे बतायी जायगी। इच्छा का रोकना, उसीका नाम है तप।

६ संयम—इन्द्रियों का दमन, इच्छाओं का रोकना; और जिसमे पाप लगे, ऐसे कार्यों से दूर रहना। 'संयम' के १७ भेद बारवें प्रकरण में दिखला चुके हैं।

७ सत्य—झूठ का त्याग।

८ शौच—मन, वचन, काया की शुद्धि। अन्तःकरण को साफ रखना। पापवृत्ति में मन न लगाना।

९ अकिंचन—द्रव्यादि परिग्रह का त्याग करना।

१० ब्रह्मचर्य—वीर्य की रक्षा करना।

—: २३ :—

(३)

भावनाएं

बारह प्रकार की भावनाएं ये हैं।

१ अनित्य भावना—यह शरीर, जीवन, यौवन, धन धान्यादि जो देखे जाते हैं, वे सब अनित्य हैं—नाशवान हैं, ऐसा मन में दृढ समझना।

२ अशरण भावना—जीव अकेला आया है और अकेला जायगा, इसका माता, पिता,

भाई, पुत्र, स्त्री कोई शरण नहीं दे सकता है, ऐसा विचार करना ।

३ संसार भावना—यह सारा संसार कर्मों का परिणाम है । सुखी, दुखी, रोगी, शोकी राजा, रंक इत्यादि जितनी भी विचित्रताएं देखी जाती हैं, यह सब कर्मों का फल है । इन्हीं कर्मों के कारण जीव देवगति, मनुष्यगति, तिर्यंचगति और नरकगतिरूप संसार में परिभ्रमण करता है । ऐसा विचार करना - भावना करनी ।

४ एकत्व भावना— जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही जाता है । कर्म भी अकेला ही करता है और भोगता भी अकेला है । अनेक प्रकार के पापकर्म को करके मनुष्य धन-धान्य कमाता है, खाने वाले कई खा जाते है, परन्तु उन पाप कर्मों का फल तो करने वाले मनुष्य को ही भोगना पडता है । इसलिये मैं अकेला हूं, मेरा कोई नहीं, ऐसी भावना करनी ।

५ अन्यत्व भावना—मैं और मेरा शरीर जुदा है । घर-वार, पुत्र परिवार वगैरह सब मेरी आत्मा से जुदे हैं ऐसा दृढ समझना । जुदाई

समझने से संयोग-वियोगजन्य सुख दुःख नहीं होगा। इसलिये अन्यत्व की भावना करनी।

६ अशुचि भावना— यह शरीर अशुचि पदार्थ से बना है, और अशुचि पदार्थ से भरा है। चाहे कितना भी ऊपर से साफ रक्खो, तेल, इत्र लगाओ लेकिन इसके अन्दर की अपवित्रता दूर होने वाली नहीं है। इस अशुचिता का विचार करके इस शरीर पर मोह नहीं करना।

७ आश्रव भावना—जिसके द्वारा कर्मों का आगमन होता है, उसका नाम है आश्रव। मुख्यतया मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से कर्मों का आगमन होता है। ऐसा समझ करके, जिसमे निरर्थक कर्मबन्धन हो, ऐसे कार्यों से दूर रहना चाहिये।

८ संवर भावना— आश्रवों का निरोध करना—रोकना, उसका नाम है संवर। अर्थात् प्रवृत्तियों को रोक करके मन-वचन-काया को एकाग्र करना, उसका नाम है संवर। संवरभावना से आश्रवद्वार रुक जाते हैं। और

आश्रवद्वार रुक जाने से नये कर्मों का आना बन्द हो जाता है।

९ निर्जराभावना—आत्मा के ऊपर लगे हुए कर्मों को झरा देना, गिरा देना, नाश कर देना उसका नाम है निर्जरा। आश्रव का काम है कर्मों को लाने का, संवर का काम है आनेवाले कर्मों के रोकने का और निर्जरा का काम है लगे हुए कर्मों को दूर करने का। यह निर्जरा दो प्रकार से होती है १ सकामनिर्जरा और २ अकामनिर्जरा। 'मैं अपने कर्मों का क्षय करूं' ऐसा विचार करके तपस्यादि द्वारा जो कर्मों का क्षय करता है, उसका नाम है सकामनिर्जरा और जानवर आदि कई जीव ऐसे होते हैं कि इरादा पूर्वक नहीं, परन्तु अनिच्छा से भी कष्टों को सहन कर लेते हैं और उसके द्वारा उसके कर्मों का क्षय होता है क्योंकि कर्मों का फल उन कष्टों द्वारा भोग लेते हैं, इसलिए उनकी निर्जरा अकामनिर्जरा कही जाती है।

१० लोकस्वभावभावना—यह लोक, जिसके अन्दर पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारे,

स्वर्ग, नर्क, आकाश आदिका समावेश होता है, इसके स्वभाव की भावना-विचार करना। यह लोक उत्पत्ति, स्थिति और व्यय-इन स्वरूपों से युक्त है, अनादि अनन्त है, किसी का बनाया हुआ नहीं है। इस लोक के तीन विभाग हैं-उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक। समस्त जीव और पुद्गल इसी के अन्दर रहते हैं। इत्यादि लोक का स्वरूप विचारना।

११ बोधिदुर्लभभावना—'बोधी' कहते हैं सम्यक्त्व को। सम्यक्त्व-समकित-दर्शन-श्रद्धा यह सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिसके विषय में देखो १०वाँ प्रकरण। इस 'बोधि'-सम्यक्त्व-श्रद्धा का प्राप्त होना बड़ा ही दुर्लभ है। महापुन्य एकत्रित होता है तब यह जीव पृथ्वी, पाणी, अग्नि, वायु वनस्पति में से निकलकर दो इन्द्रिय वाला होता है। वहाँ से अनुक्रम से तीन, चार, पांच इन्द्रिय वाला होता है। उसमे भी जैसे जैसे पुण्यप्रकृति बढती जाती है, वैसे वैसे आर्यक्षेत्र, उत्तम जाति, ऊँचा कुल अच्छा शरीर वगैरह मिलते हुए धर्मश्रवण, संत समागम और बोधि-सम्यक्त्व की प्राप्ति होती

है। 'बोधि' यह मोक्ष फल को उत्पन्न करने वाले वृक्ष का एक बीज है। बीज अच्छा होता है तो वृक्ष होता है और वृक्ष से फूल-फल होते हैं। तो मुझे 'बोधिबीज' की प्राप्ति हो, ऐसी भावना करे।

१२ धर्म भावना— 'धर्म' ही संसार में उत्कृष्ट मंगल है। 'अहिंसा' 'संयम' और 'तप' यही धर्म है। इसके अन्दर समस्त धर्मों का समावेश हो जाता है। केवलज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् तीर्थंकरने 'धर्म' का स्वरूप जो प्रकट किया है, वही आत्मकल्याण को कराने वाला है। क्योंकि वह शान्ति का धर्म है। राग-द्वेष दूर करने वाला है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाओं को शान्त करना उसी का नाम धर्म है। इस प्रकार धर्म की भावना करनी चाहिए।

—: २३ :—

(४)

२२ परिषह

जिससे दुःख उत्पन्न हो, उसका नाम है परिषह। ऐसे परिषह जैनशास्त्रों में २२ बताये हैं, वे ये हैं—

१ क्षुधा परिषह—भूख से जो वेदना होती है उसका सहन करना।

२ तृष्णा परिषह—प्यास लगने से जो दुःख होता है, उसका सहन करना।

३ शीत परिषह—बहुत ठंडी लगने से जो दर्द होता है, उसका सहन करना।

४ उष्ण परिषह—बहुत गर्मी लगने से पैर जले, शरीर जले, उसका सहन करना।

५ दंश-मशक परिषह— डांस, मच्छर काटने के समय जो दुःख होता है उसका सहन करना।

६ अचेल परिषह—फटे-टूटे या जीर्ण-शीर्ण कपड़ा हो, उसका सहन करना।

७ अरति परिषह—चारित्र पालने में अरति अर्थात् मन में ग्लानि नहीं आने देना।

८ स्त्री परिषह—स्त्रियों के हाव-भावादि प्रसंग में चित्त स्थिर रखना, चलायमान नहीं होना।

९ चर्या परिषह—किसी भी ग्रामादि के ऊपर ममत्व नहीं रख करके ग्रामानुग्राम भ्रमण करना, और इस भ्रमण में जो कष्ट आवे, वह सहन करना।

१० निषद्या परिषह— निषद्या कहते हैं रहने के स्थान को। जिस स्थान में स्त्री, पशु नपुंसक न रहते हों, ऐसे स्थान में रहना, और उससे कोई उपसर्ग-परिषह आवे, उसका सहन करना।

११ शय्या परिषह—सोने की जगह चाहे कैसे भी हो, ऊँची, नीची, धूली-कंकरवाली कैसी भी हो, लेकिन मन में ग्लानि नहीं लाते हुए उसका सहन करना।

१२ आक्रोश परिषह—कोई मनुष्य कैसा भी आक्रोष करे, तिरस्कार करे, अपमान करे परंतु उसको सहन करना ।

१३ वध परिषह—कोई मनुष्य शारीरिक यातनाएं करे, मारे, पीटे, तो उस समय यह विचारना कि यह शरीर मेरा तो है नहीं और शरीर तो आखिर नाश होने ही वाला है और जो दुःख पड रहा है, वह तो मेरे कर्मों का फल है, ऐसी भावना करके सहन करे ।

१४ याञा परिषह—किसी से कोई चीज मांगना, यह शरम की बात है, परंतु चारित्र रक्षण के लिए वस्त्र, पात्र और अन्न की याचना गृहस्थ से करना । यह भी एक परिषह है । उसको सहन करना ।

१५ लाभ परिषह- किसी चीज की जरूरत हो और वह गृहस्थों से भिक्षा मांगने पर भी न मिले, तो उससे दुःखी नहीं होना चाहिए । उस लाभ परिषह को सहन करना चाहिए ।

१६ रोगपरिषह—जिस समय किसी प्रकार का शारीरिक व्याधि उत्पन्न हो, उस समय हाय पीट न करे और समभाव पूर्वक सहकर निर्दोष उपचार (दवाइयाँ) कराते हुए, उसको सहन करे और यह विचारे कि यह मेरे पूर्व कर्मों का फल है।

१७ तृणस्पर्श परिषह—कहीं बैठने, उठने, चलने तथा सोने में घास की नोंकें लगती हों तो उस कष्ट का सहन करना।

१८ मल परिषह—हाथ, पैर या शरीर के ऊपर मल चढ गया हो, परंतु उस पर घृणा न करे और कष्ट को सहन करे।

१९ सत्कार परिषह—बहुत आदर सम्मान होता हो, लोग स्तुति करते हों, तो उससे खुशी नहीं होना और यह सोचना कि यह मेरा सम्मान नहीं है, परन्तु त्याग का सम्मान है। और लोग न करें, तो उससे अफसोस भी नहीं करना।

२० प्रज्ञा परिषह— बुद्धि अच्छी हो, बहुश्रुत हो और लोगों की शंकाओं का निवारण

करने से लोग प्रशंसा करते हों, तो इससे अपनी बुद्धि का अभिमान नहीं करते हुए नम्रता धारण करनी चाहिए। और अपने से अधिक बहुश्रुतों की तरफ देखना चाहिये, कि मैं क्या हूं ?।

२१ अज्ञान परिषह—बुद्धि की अल्पज्ञता के कारण यदि शास्त्रादि का ज्ञान ज्यादा न हो तो इससे दुखी भी नहीं होना चाहिए।

२२ सम्यक्त्व परिषह—कितने भी कष्ट उपसर्गों के होते हुए भी सच्चे धर्म की श्रद्धा से चलायमान नहीं होना चाहिए। शास्त्रों के अर्थ बराबर न समझे जांय, तो इसमें व्यामोह नहीं करना चाहिए। दूसरे धर्मों में चमत्कार देखकर उसपर आकर्षित नहीं होना चाहिए। इसका नाम है सम्यक्त्व परिषह जीतना। अर्थात् श्रद्धा-यकीन से चलायमान करने के निमित्त मिल जांय, परन्तु चलायमान नहीं होना।

—: २३ :—

(५)

चारित्र

जैनशास्त्रों में ५ प्रकार के चारित्र कहे हैं।

१ सामायिक—समस्त पापप्रवृत्तियों के त्यागरूप चारित्र को लेना। साधु यावज्जीवन के लिए यह चारित्र लेते हैं। गृहस्थ ४८ मिनिट तक सब पापारंभों को छोडकर, एकान्त स्थान में बैठकर ध्यान करते हैं। यह सामायिक चारित्र है।

२ छेदोपस्थापनीय चारित्र— किसी मनुष्य ने चारित्र लिया है—अर्थात् दीक्षा ली है, परन्तु कर्माधीन होकर उसने कोई बडा पाप किया। उस पाप के प्रायश्चित्तरूप उसकी दीक्षा के पर्याय-दिन घटा दिए जांय, अर्थात् उसको दूसरे साधुओं से छोटा बना दिया जाय, उसको सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। और एक तीर्थंकरके साधु, दूसरे तीर्थंकर के शासन में— आज्ञा में प्रवेश करें, उस समय

उस मुनि को पुनः चारित्र का उच्चारण करवाना पड़ता है। जैसे चार महाव्रत धारण करने वाला पार्श्वनाथ का साधु पाँच महाव्रत वाले महावीर स्वामी के शासन में प्रवेश करे, तो उसको भी छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं।

३ परिहारविशुद्धि चारित्र।

४ सूक्ष्मसंपराय चारित्र।

५ यथाख्यात चारित्र।

ये तीन चारित्र बहुत ही उच्च कोटी की तपस्या एवं बहुत उच्च कोटी की आत्मा की स्थिति में प्राप्त होते हैं। वर्तमान काल में प्रथम के दो चारित्र के धारण करने वाले साधु होते हैं। पिछले तीन प्रकार के चारित्र वाले नहीं होते। क्योंकि इतना शारीरिक, मानसिक बल नहीं।

इस प्रकार ५ समिति, ३ गुप्ति, १० यति-धर्म, १२ भावना, २२ परिषह और ५ चारित्र— ये ५७ भेदों से संवर होता है अर्थात् इन ५७ प्रकार से कर्मों का आना रोका जा सकता है।

—: २४ :—

निर्जरा

जो कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं-चिपके हुए है, उनको खिरा देना, गिरा देना, दूर करना, झरा देना-उसीका नाम है निर्जरा। लगे हुए कर्मों के क्षय करने का-दूर करने का उपाय तपस्या दिखलायी गयी है। जैन-शास्त्रों में तप १२ प्रकार का है, उसमें ६ बाह्य तप और ६ आभ्यान्तर तप ।

६ बाह्यतप—

१ अनशन—भोजन का त्याग करना अर्थात् उपवास करना ।

२ उणोदरी—जितनी भूख हो, उससे कुछ कम खाना। पेट को कुछ खाली रखना ।

३ वृत्तिसंक्षेप—इच्छा वृत्तियों को रोकने के लिये भिन्न २ प्रकार के नियम अभिग्रह धारण करना। उदाहरणार्थ- आज मैं अमुक वस्तु का त्याग करता हूं, आज अमुक मुहल्ले

में से या अमुक के घर से भिक्षा मिलेगी तो ही भोजन करूंगा। आज में अमुक समय पर ही भोजन करूंगा। इत्यादि भिन्न २ प्रकार के नियम होते हैं।

४ रसत्याग—दूध, दहीं, घी, तेल, गुड और तली हुई चीजें-ये छ विगय और मदिरा, मांस, मक्खन और मध-शहद ये चार महाविगय बतलायी है। चार महाविगय तो त्याज्य ही हैं। ६ विगय में से भी रोज १-२-३-४ का त्याग करना, यह भी एक प्रकार की तपस्या है।

५ कायक्लेश—वीरासन, शीर्षासन, मयूरासन इत्यादि अनेक प्रकार के आसनों से बैठना। खडे होकर एकाग्रता से ध्यान करना, केशलुञ्चन करना, ये भी तपस्या है।

६ संलीनता— संकोच करना, संवरण करना अर्थात् अशुभ मार्ग में जाती हुई इन्द्रियों को रोकना यह इन्द्रिय संलीनता है। क्रोध, मान, माया, लोभ—इन कषायों को रोकना, यह कषायसंलीनता है। अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना, यह योगसंलीनता है, स्त्री, पशु और

नपुंसक के संसर्ग से रहित स्थान में रहना, यह विविक्तचर्यासंलीनता है। यह छ प्रकार का बाह्य तप कहा जाता है।

६ प्रकार का आभ्यन्तर तप –

१ प्रायश्चित्त—जो कुछ भूल-गलती पाप हो जाय, उसका गुरु से प्रायश्चित्त लेना, दंड लेना। गुरु के आगे सच्चे सच्ची बात निवेदन करना। भविष्य में ऐसा पाप नहीं करने की प्रतिज्ञा करना, वगैरह।

२ विनय—अपने से ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, चारित्रवृद्ध या हर किसी प्रकार से बडे हों, उनका बहुमान करना, उनका अपमान न हो, ऐसा ख्याल रखना, उसका नाम है विनय।

३ वैयावृत्य—वैयावृत्य कहते हैं भक्ति को। बडे आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ज्ञानी, मुनि ऐसे गुणवानों को आहार, वस्त्र आदि उपयोगी वस्तुओं से भक्ति करना।

४ स्वाध्याय—१ पढना-पढाना, २ जो शंका हो वह गुरु को पूछना, ३ जो कुछ याद हो

उसको पुनः पुनः स्मरण में लाना, ४ पढी हुई बातों को एकाग्रचित्त से विचारना-चिंतवन करना, ५ धर्मोपदेश देना-धर्मकथा करनी-यह पांच प्रकारका स्वाध्याय है।

५ ध्यान—ध्यान का अर्थ है विचार। चित्त के योग से-एकाग्रता से विचार करना अथवा चित्त को रोकना-ये दोनों प्रकार का ध्यान कहा जाता है। जैनशास्त्रों में चार प्रकार का ध्यान कहा है १ आर्तध्यान, २ रौद्रध्यान ३ धर्मध्यान, ४ शुक्लध्यान। संसार सम्बन्धी-शरीर, धन, माल-मिल्कत, व्यापार-रोजगार पुत्र, परिवार—इन बातों का जो ध्यान होता है वह आर्त और रौद्र ध्यान है। ये दो प्रकार का ध्यान तप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तो कर्म छूटते नहीं, बल्कि बढते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये आत्मशुद्धि के कारण हैं, इसलिए ये दो ध्यान 'तप' कहे जाते हैं। दान शील, तप, भाव, परोपकार, दया आदि संबन्धी विचार करना, यह धर्मध्यान है। शुक्लध्यान तो बहुत उच्च कोटि का है, जो आत्मा अति शुद्ध होता है, उसको यह शुक्लध्यान होता है।

६ उत्सर्ग—उत्सर्ग का मतलब है त्याग। उपवासादि के समय कभी २ एकान्त में बैठकर थोडी देर के लिए कायोत्सर्ग करना। अर्थात् घण्टे आधघण्टे के लिए ध्यान में बैठकर यह निश्चय करना कि— शरीर के साथ मेरा कोई संबन्ध नहीं, चाहे कोई मारे-पीटे या कोई जानवर आ करके खा जाय। कभी वस्त्रों की उपाधि कम कर देना। थोडी से थोडी चीज से अपना निर्वाह चलाना। यह सब उत्सर्ग है। स्मरण में रखना चाहिए कि वस्तु के मिलते हुए उसका त्याग करना, वह सच्चा त्याग है।

इस प्रकार छ बाह्य और छ आभ्यन्तर ऐसे १२ प्रकार का तप है। तपस्या का अर्थ ही यह है कि इच्छा का रोध इच्छाओं को रोकना।

—: २५ :—

बन्ध

'बन्ध' यह शब्द स्वयं अपने अर्थको प्रकट करता है। बन्धन होना। बन्धन एक चीज का नहीं होता। दो चीजों का सम्बन्ध होता है, उसको बन्धन कहते हैं। संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं— १ चेतन २ जड़। आत्मा चेतन है। आत्मा का मूल स्वरूप सच्चिदानन्दमय है। आत्मा अरूपी है, अच्छेदी है। जैसा ईश्वर है। लेकिन ईश्वर और इस आत्मा में अन्तर इतना ही है कि—ईश्वर निर्लेप है, निरावरण है, शुद्ध स्वरूपी है और यह आत्मा ढका हुआ है, आच्छादित है, आवरणयुक्त है। यही कारण है कि संसार में परिभ्रमण करता है, सुख दुखों का अनुभव करता है। इन आवरणों को जैन शास्त्रकार 'कर्म' कहते हैं। चैतन्यशक्ति वाले आत्मा के ऊपर जड ऐसे कर्म लगे हुए हैं। इसी कारण से यह आत्मा नीचे रहता है। जैसे कोई तुंबा हो, उस तुंबे का स्वभाव तो है पानी में तरने का, परन्तु उसके

ऊपर मिट्टी और कपडे का लेप कर दिया जाय और खूब वजनदार बना दिया जाय तो वही तैरने के स्वभाव वाला तुबा पानी में डूब जायगा। नीचे बैठ जायगा। ठीक यही दशा इस आत्मा की है।

तब यह निश्चित हुआ कि आत्मा के साथ कर्मों का बन्धन हुआ है, इसलिये आत्मा भ्रमण करता है अथवा नीचे पडा हुआ है।

जैनधर्म कहता है कि आत्मा और कर्म का संबन्ध अनादि काल से है। और वह आत्मा के ऊपर रही हुई राग-द्वेष की चीकनाई के कारण से है। अनादि काल से आत्मा को राग-द्वेष रहा हुआ है। किसी समय आत्मा शुद्ध था और पीछे से राग-द्वेप की चीकास लगी, ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहने से मुक्तात्माओं को भी राग-द्वेष की चिकास लगने की संभावना होगी। इसलिए आत्मा और उस पर की राग-द्वेष की चिकास अनादिकाल से है। और इसीलिये कर्म के आवरण उसपर लगते रहते हैं।

आत्मा के ऊपर राग द्वेष के आवरण कब लगे? यह भी नहीं कह सकते। कोई नहीं कह सकता है कि—खाण में माटी और सोना कब मिला। हं हां, मिला हुआ ही है। हमेशा से है। लेकिन प्रयोगों द्वारा सोना और माटी अलग कर सकते हैं। इस प्रकार आत्मा के ऊपर लगे हुए आवरण-कर्म-राग-द्वेष अलग कर सकते हैं। सोना और माटी अलग करने से सोना सोना रह जाता है, और माटी माटी रह जाती है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा जुदे होने से आत्मा अपने असली शुद्ध स्वरूप में आजाता है। और कर्म अलग होजाते हैं।

इस पर से यह निश्चित होता है कि आत्मा पहले और कर्म पीछे, यह भी ठीक नहीं है। 'कर्म' पहले और 'आत्मा' पीछे, ऐसा तो बोल ही नहीं सकते। ऐसा कहने से तो आत्मा की उत्पत्ति हो जायगी। और यदि 'आत्मा' उत्पन्न होने वाले है तो उसका नाश भी होना चाहिये।

इसलिये आत्मा और कर्म दोनों अनादि सम्बन्धित हैं। और वह दूध और पानी की

तरह से ओतप्रोत हैं।

इस सारे लोक में कर्म के पुद्गल ठुंस ठुंस करके भरे पड़े हैं। जीव की जैसी २ क्रियाएं होती हैं, उसके अनुसार वे कर्म के परमाणु आत्मा पर लगते हैं। इन कर्मों का स्वभाव स्वरूप स्थिति वगैरह भिन्न २ प्रकार से है। यही कारण है कि संसार में यह सारी विचित्रता देखी जाती है। जैसे एक सोंठ का लड्डू है, वह वायु को दूर करेगा। इसी प्रकार जो कर्म जिस प्रकार के स्वभाव वाला होगा, वह कर्म उसी प्रकार के लाभालाभ को करेगा। इसको जैनशास्त्रों में 'प्रकृतिबंध' कहा है।

अब, जैसे कोई लड्डू १५ दिन तक अच्छा रहता है फिर बिगड जाता है, कोई १० दिन में बिगडे जाता है, कोई दो महीने तक भी रहता है। इसी प्रकार कर्म की स्थिति भी बन्धन के समय निश्चित हो जाती है। कोई कर्म ५ वर्ष में जा करके फलता है, कोई ५ भवों के बाद भी फले। कोई कर्म थोडे समय में पक जाता है, कोई अधिक समय में। इसको 'स्थितिबन्ध' कहते हैं।

जिस समय कर्म का बन्ध होता है, उसी समय यह भी निश्चित होता है कि कर्म किस प्रकार के फल को देगा? शुभ है? अशुभ है? तीव्र है? तीव्रतर है? मन्द है? वगैरह। जैसे किसी लड्डू में किसी प्रकार का स्वाद रहता है, किसी में किसी प्रकार का। इसी प्रकार कर्मों का भी फल मिलता है। इसको जैनधर्म में 'अनुभावबन्ध' अथवा 'रसबन्ध' कहते हैं।

जैसे लड्डू कोई छोटा होता है कोई बड़ा होता है। इसी प्रकार कर्म के पुद्गलों का भी आकार होता है अर्थात् जितने कर्मों का बन्ध होता है, उन सबके प्रदेशों की संख्या एक सरखी नहीं होती है अर्थात् किसी के थोड़े किसी के कुछ अधिक इत्यादि। इसको 'प्रदेश बन्ध' कहते हैं।

--: २५ :--

(२)

आठ कर्म

इस आत्मा के ऊपर अनेक प्रकार के कर्म लगते है, क्योंकि जहां क्रिया है वहां कर्म है और संसार की सारी विचित्रताएं ही दिखला रही हैं कि जीव, जो २ कर्म उपार्जन करता है वह अनेक प्रकार के होने चाहिये। परन्तु जैनशास्त्रकारों ने उन सारे कर्मों को ८ विभागों में विभक्त किया है। वे ८ प्रकार के कर्म ये हैं।

१ ज्ञानावरणीय कर्म-जिस कर्म से आत्मा की ज्ञानशक्ति के ऊपर पर्दा पडे। इसको आंख के ऊपर बांधी हुई पट्टी की उपमा दी है। जैसे आंख पर पट्टी बांधने से देखा नहीं जाता है वैसे ही आत्मा के ऊपर इस कर्म का आवरण आने से ज्ञानशक्ति आच्छादित हो जाती है। बहुत २ मेहनत करने पर भी बहुत से लोग अच्छी तरह से पढ नहीं सकते हैं, यह इस कर्म का परिणाम है।

२ दर्शनावरणीयकर्म — बहुत से मनुष्य संसार के पदार्थों और विषय को नहीं देख सकते है, यह इस कर्म का परिणाम है। इस कर्म को द्वारपाल की उपमा दी गई है। द्वारपाल से रोका हुआ मनुष्य राजा की मुलाकात और राजा के दर्शन नहीं कर सकता, वैसे ही इस कर्म के कारण आत्मा को सम्यक्‌दर्शन नहीं होता है।

३ वेदनीय— इस कर्म का स्वभाव जीव को सुख दुःख देने का है। इसको तलवार की धार पर लगे हुए मधु (शहत) की उपमा दी है। शहत को चाटते हुये स्वाद तो आता है, परन्तु जीभ कट जाती है, तब दुःख होता है। संसार के सुख, यह भी आत्मा को तो वेदना ही है और इसीलिए शाता (सुख) वेदनीय और अशाता (दुःख) वेदनीय—ऐसे दो प्रकार के वेदनीय कर्म कहे हैं।

४ मोहनीय – इसका स्वभाव है आत्मस्वरूप को भुला देना। मोह पमाना। सम्यक्त्व गुण एवं चारित्रगुण को रोकना, यह इसका स्वभाव है।

इसको मदिरा की उपमा दी है। मदिरा पीने वाला जैसे बेहोश हो जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव वस्तु स्थिति नहीं जान सकता और न आदर कर सकता है।

५ आयुष्य कर्म—इसका स्वभाव है जीव को अमुक गति में अमुक काल तक रोक रखना, इसीलिए इसको बेडी की उपाधि दी है। जैसे पैर में बेडो डाला हुआ मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक कहीं जा आ नहीं सकता है, उसी प्रकार इस आयुष्य कर्म के कारण से निकल नहीं सकता। आयुष्य कर्म खतम होते ही वह दूसरी गति में फौरन पहुंच जाता है। उस दूसरी गति का आयुष्यकर्म यहां ही बांध लेता है।

६ नामकर्म—संसार में किसी का यश होता है, किसी का अपयश होता है। किसी को लोग चाहते है, किसी को नहीं चाहते। इत्यादि अनेक प्रकार की विचित्रताएं देखते हैं, यह इस नाम कर्म का परिणाम है। इसका स्वभाव चित्रकार जैसा है। अच्छा चित्रकार चित्र-विचित्र, मनुष्य, देव आदि के चित्र

बनाता है, इसी प्रकार यह नामकर्म भी अनेक वर्ण वाले अंग, उपांग, देव, मनुष्य आदि रूप इस जीव को बनाता है।

७ गोत्र कर्म—अमुक जीव अमुक कुल में, अमुक गोत्र में उत्पन्न हुआ; यही कारण है कि—उसने गोत्र कर्म इसी प्रकार का बंधा हुआ था। इसको कुंभार की उपमा दी है। अर्थात् कुंभार मिट्टी के बरतन बनाता है, एक बरतन का उपयोग कुछ होता है, दूसरे का कुछ होता है। इसी प्रकार गोत्र कर्म के कारण कोइ कहां उत्पन्न होता है, कोई कहां उत्पन्न होता है। इसके दो भेद हैं-उच्च और नीच। चाहे क्रिया से उच्च नीच समझो; चाहे किसी प्रकार से, परन्तु उच्च नीच का भेद तो रहेगा ही। और उसमें जन्म होने का कारण यह गोत्रकर्म है।

८ अन्तरायकर्म— कई मनुष्य के पास द्रव्य होते हुये दान नहीं दे सकता, सामने देखता है कि इस व्यापार में मुझे जरूर फायदा होगा, लेकिन लाभ प्राप्त नहीं कर सकता, भोगने की, खाने-पीने की चीजें तैयार होते हुए भी उसका भोग नहीं कर सकता, कपड़े-लत्ते, आभूषण

एवं अन्यान्य चीजों के रहते हुए भी उसको काम में नहीं ला सकता, उपयोग नहीं कर सकता, और तपस्या, दूसरों की सेवा आदि करने की शक्ति-पुरुषार्थ होते हुए भी कुछ नहीं कर सकता। तो, समझना चाहिए कि वह आत्मा, इस अन्तरायकर्म से लदा हुआ है। इसको खजानची की उपमा दी है। राजा का स्वभाव है दान करने का, इच्छा भी होती है दान करने की, परन्तु कंजूस की मूर्ति समान मिला हुआ खजानची, राजा को उलटा-पुलटा समझाता है, तीजोरी खाली दिखाता है, आवक से खर्च ज्यादा दिखलाता है, इसलिए दान नहीं कर सकता। दानान्तरायकर्म, लाभान्तराय कर्म, भोगान्तरायकर्म, उपभोगान्तरायकर्म और वीर्यान्तरायकर्म—इस प्रकार पांच प्रकार के अन्तरायकर्म हैं।

बस, इन्ही कर्मों का बन्ध आत्मा के ऊपर लगता है और इन्हीं बन्धनों के कारणों से इस आत्मा की प्रवृत्ति, सुख दुःख होता है। कर्म जड होते हुए भी उसमें अनन्त शक्ति है। कर्मों का स्वभाव ही ऐसा है, वे अपने अपने

स्वभावानुसार आत्मा की गति कराते हैं। जैसे चुम्बक कहीं भी रक्खो, बिना किसी रोक-टोक के, लोहे को अपनी तरफ खींचेगा ही। चुम्बक का यह स्वभाव ही है। इसी प्रकार कर्मों का भी यह स्वभाव है कि वह जिस प्रकार के होते हैं, उस प्रकार के परिणाम को उत्पन्न करते हैं।

उपर्युक्त आठ कर्मों में चार घातीकर्म हैं और चार अघाती कर्म। ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय ये चार 'घातीकर्म' हैं। 'घाती' का मतलब है जो घात करे, नाश करे, आत्मा के निजगुणों को हणे अथवा आत्मस्वरूप के प्रकट होने में जो बाधक हो वह घाती है। इन चार कर्मों का क्षय होते ही आत्मा को केवलज्ञान-कैवल्य-अतीन्द्रियज्ञान अथवा संपूर्ण ज्ञान उत्पन्न होता है। दूसरे चार आयुष्य, नाम, गोत्र और वेदनीय—ये चार कर्म अघाती कर्म हैं। सर्वज्ञ-केवली आयुष्य पूर्ण होने के समय इन चारों कर्मों का क्षय कर देते हैं। और उसी क्षण में ऊर्ध्वगति करते हुए लोकाग्र

स्थान को-सिद्धस्थान को प्राप्त कर लेते हैं। उसी को मोक्ष कहते हैं।

—: २६ :—

मोक्ष

नवतत्त्वों के अन्दर 'मोक्ष' को भी एक तत्त्व माना है। समस्त कर्मों का क्षय हो करके आत्मा स्वरूपावस्था को प्राप्त करता है, उसी का नाम मोक्ष है, अर्थात् आत्मा के ऊपर जो आवरण-कर्म लगे हैं, उन समस्त आवरणों का क्षय हो जाना-आत्मा का आवरण रहित निर्लेप हो जाना, इसी का नाम है मोक्ष।

कर्मों का बोझा सर्वथा दूर हो जाने से आत्मा हल्का—अपने स्वरुप में आजाता है और जो हलकी चीज होती है, वह उर्ध्वगति करती है। आत्मा इस शरीर को छोडते ही उर्ध्वगमन करता है और क्षण में लोकाग्रतक पहुंचता है। उसकी गति वहां से आगे नहीं होती, क्योंकि यह पहले बतलाया जा चुका है

कि जहां तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक पदार्थ है, वहां तक गति और स्थिति होती है।

भव्य की मुक्ति—इस संसार में दो प्रकार के जीव हैं—'भव्य' और 'अभव्य'। 'भव्य' 'अभव्य' की कल्पना जीवों के स्वभाव से की जाती है। जैसे मूंग में कोई दाना ऐसा होता है, जिसको 'कोरडु' कहते हैं। इस कोरडु मूंग का स्वभाव है कि वह कितना भी प्रयत्न करने पर पकता नहीं है। इसी प्रकार जो 'अभव्य' जीव होता है, उसकी मुक्ति होती नहीं है। 'भव्य' जीवों में भी कोई कोई जीव ऐसे होते हैं जिनको 'मुक्त' होने की सामग्री नहीं मिलती-कभी नहीं मिलती, इसलिये उनका मोक्ष नहीं होता; परन्तु जो मोक्ष में जाता है, वह भव्य ही जाता है, ऐसा जैनधर्म कहता है।

आत्मा सो परमात्मा—आत्मा के मूल स्वरूप में और परमात्मा के स्वरूप में कोई फर्क नहीं है। परन्तु कर्म के आवरणों से युक्त होने से जो जीव आत्मा कहा जाता है,

आवरण दूर होने से, वही जीव परमात्मा कहा जाता है। इसीलिये 'आत्मा सो परमात्मा' कहने की रूढी पडी हुई है।

एक ईश्वर— जैसे संसार अनादि काल से है वैसे ईश्वर भी अनादि काल से है, यह बात 'देव' प्रकरण में कही गयी है। सिद्धावस्था-मोक्षावस्था में जितने भी आत्मा जाते हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। उनका स्वरूप एक ही है, ज्योति में ज्योति मिली हुई है। इसलिये ईश्वर एक कहा जाता है। लेकिन संसार से जितने भी आत्मा मोक्ष में जाते हैं, वे व्यक्तिगत जुदे जुदे हैं, इस अपेक्षा से उसको 'अनेक' भी कह सकते हैं। वस्तुतः मुक्तावस्था, यह एक ऐसी अवस्था है कि जहां किसी प्रकार की जुदाई-भेद-भाव नहीं।

मोक्ष का सुख— सुख दो प्रकार का होता है— १ क्षणिक सुख और २ आत्यन्तिकसुख। अथवा १ कृत्रिम सुख और २ स्वाभाविक सुख। इस संसार में जीव जिन २ सुखों का अनुभव करता है वह क्षणिक सुख है, अथवा कृत्रिम

सुख है। क्षणिक सुख इसलिये कहा जाता है कि सुख का अनुभव क्षण भर हुआ ही नहीं और इसके पीछे दुःख का अनुभव होता है। इसी प्रकार संसार का सुख कृत्रिम सुख है, इस लिये कि यह सुख स्वाभाविक सुख नहीं, दुःख की निवृत्ति को ही सुख माना है। भूख की वेदना होने पर भोजन कर लिया, इसलिये कहते हैं सुख हुआ। क्या सुख हुआ? वेदना की निवृत्ति हुई। गरमी लगी, कपड़े निकाल दिये, मान लिया कि सुख हुआ। हाथ में फोडा हुआ, रात भर नींद नहीं आयी, सुबह ओपरेशन कराया, पीप निकल गई, माना कि— हा......श सुख हुआ— आनन्द हुआ। मनुष्य को काम-ज्वर हुआ विषय सेवन किया, मनुष्य ने समझा कि आनन्द हुआ। क्या आनन्द हुआ? पूर्वकाल में जो दुख हुआ था, उसकी निवृत्ति हुई। अथवा एक प्रकार का कृत्रिम सुख हुआ।

परन्तु मोक्ष में ऐसा क्षणिक किंवा कृत्रिम सुख नहीं है। मोक्षावस्था यह आत्मा की स्वाभाविक अवस्था है। स्वाभाविक अवस्था का आनन्द-सुख वह कृत्रिम सुख नहीं। क्योंकि

आत्मा का स्वरूप ही सच्चिदानन्दमय है। अपने स्वरूप का- स्वाभाविक आनन्द का जो अनुभव है, वह अपूर्व आनन्द है, अपूर्व सुख है। मोक्ष का सुख क्षणिक सुख नहीं, किन्तु आत्यन्तिक सुख है। क्योंकि मोक्ष प्राप्त होने के पश्चात् आत्मा को कर्मों की उपाधि लगने वाली नहीं है। कर्मों का आत्यन्तिक अभाव, उसी का नाम है मोक्ष। और जो दुःखानुभव जीव करता है, वह कर्मों के कारण करता है, परन्तु जहां कर्मों का ही अभाव है, फिर उसको दुख क्या? इसलिये मोक्षावस्था का सुख, यह आत्यन्तिक सुख है।

मोक्ष का सुख अनिर्वचनीय है। वह न लेखिनी से लिखा जा सकता है, न वाणी से कथा जा सकता है। इस सुख की कोई उपमा भी नहीं। वह अनुपमेय है। इस संसार में भी बहुत सी ऐसी चीजें हैं, जिनकी उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे घी। सभी लोग घी खाते हैं, परन्तु घी का स्वाद किसके जैसा है? ऐसा पूछा जाय, तो कोई उपमा नहीं दे सकता। जब कि प्रतिदिन अनुभव में आने वाली चीज के लिये

कोई उपमा नहीं दे सकते, तो फिर मोक्ष सुख के लिये तो कहना ही क्या ?

अपुनरागमन— मोक्षप्राप्त जीव का पुनः इस संसार में आगमन नहीं होसकता । क्योंकि कर्मों का समस्त आवरण जब दूर होजाता है, तब ही मोक्षावस्था होती है । और भवभ्रमण का कारण ही कर्म है । जब कर्म नहीं तो भवभ्रमण नहीं, जन्म नहीं, जरा नहीं, मृत्यु नहीं, शरीर नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं । एक बात और भी है । मोक्ष कोई ऐसी चीज नहीं जो उत्पन्न हुई हो । जो चीज उत्पन्न होती है, उसका नाश होता है, आत्मा कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है । उसी का नाम मोक्ष है । इससे आत्मा में कोई नवीन चीज का उत्पाद नहीं होता है । सूर्य पर बद्दल के आवरण आ जाते हैं, उस आवरणों के दूर होने से सूर्य प्रकाशमान अपने स्वरूप में आजाता है । इसी प्रकार आत्मा की दशा होती है । आत्मा अपने मूलस्वभाव में आजाता है, उसी का नाम मोक्ष है । इसलिये उसका नाश नहीं, और नाश नहीं, इसलिये आत्मा का पुनः संसार में आना भी नहीं ।

जैनधर्म

(खंड ४)

—: २७ :—

पांच कारण

जैनधर्म कहता है कि संसार में जितने भी कार्य होते हैं, पांच कारणों के मिलने से होते हैं। पांच में से एक भी कारण की न्यूनता हो तो कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पांच कारण ये हैं-- काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ, और कर्म।

संसार का कोई भी कार्य, चाहे कितना भी छोटा हो, किंवा कितना भी बडा हो, इन पांच कारणों के समन्वय से होते हैं। जो कार्य जिस समय में होने वाला होता है, वह कार्य उसी समय में होगा। बाल, कुमार, युवान और वृद्धादि अवस्था यह सब काल के सिवाय नहीं हो सकती! स्त्री में सन्तानोत्पत्ति ऋतु काल के पहले नहीं हो सकती। सूर्य चन्द्रादि का उदय अस्त अपने २ समय में ही होगा।

इस प्रकार जो कार्य होता है, वह अपने२ स्वभावानुसार होता है। स्वभाव से विरुद्ध कोई

कार्य नहीं हो सकता। अग्नि का स्वभाव है जलाना, वह जलाने का ही कार्य करेगा। पानी का स्वभाव है शीतलता, वह हर किसी को शीतलता ही देगा। वंध्या स्त्री सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकती। और सन्तानोत्पत्ति करे तो वह वंध्या नहीं है। कोरडु मूंग का स्वभाव पकने का नहीं है, वह नहीं ही पकेगा।

इस प्रकार जो पदार्थ जिस काल में जिस प्रकार का होने वाला होता है, वह कार्य उस काल में उसी प्रकार होगा। इसमें फेरफार करने की किसी की भी ताकत नहीं है। किसी स्त्री को लडका होने वाली है, तो लडकी ही होगी, लडकी नहीं। जो कुछ नियत है वही होगा।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति पुरुषार्थ के सिवाय नहीं हो सकती। भोजन का समय हुआ है, मनुष्य का स्वभाव भोजन करने का है भी, नियति— होनहार— भवितव्यता भी है, परन्तु मनुष्य भोजन पर बैठ करके जबतक भोजन की क्रिया नहीं करेगा, तब तक भोजन उसके मुंह

और पेट में नहीं जायगा। रसोई पकाये बिना नहीं पक सकती। स्नान किये बिना शरीर-शुद्धि नहीं हो सकती। कौनसा ऐसा कार्य है, जो पुरुषार्थ के बिना होता है?

उपर्युक्त चार कारणों के साथ कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बल्कि यों भी कहा जाय कि चारों कारण कर्म के आधीन हैं, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस जीवने, जिस जिस प्रकार का कर्मोपार्जन किया है, उस प्रकार से कार्य बनेगा। सुख-दुःख का बल्कि प्रत्येक क्रिया का सारा आधार कर्म है। यह कर्म ही एक ऐसा है कि जो ऊपर के चारों को लाकर के उपस्थित करता है। अर्थात् कर्म-भाग्य-किस्मत जिस जिस प्रकार का होगा, उसी प्रकार से काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ होता है, लेकिन एक बात जरूर है और वह यह कि कार्य की उत्पत्ति में पांचों कारणों की जरूरत अवश्य पड़ती है। जैसे एक 'राज्य', राज्य' तब ही कहा जा सकता है जब कि—राजा, मंत्री, आमत्य, पुरोहित और नगर शेठ—ये पांच की विद्यमानता

होती है। यद्यपि इनमें राजा की प्रधानता है, परन्तु पाँचों अंग मिलते हैं, तब ही राज्य कहा जा सकता है। इसी प्रकार किसी अपेक्षा से, कर्म का किंवा पुरुषार्थ का प्राधान्य होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति में कारण तो पांचों ही मिलने चाहिए।

स्त्री को ऋतुकाल आगया है। बालक उत्पन्न करने का स्वभाव भी है—अर्थात स्त्री वन्ध्या नहीं है, नियति भी है, पुरुषार्थ भी हो चुका है, किन्तु यदि स्त्री के भाग्य में संतान नहीं है तो गर्भ धारण होगा ही नहीं। गर्भ धारण भी होगा, तो गर्भ में ही जीव मर जायगा। यदि जन्म भी हुआ, तो जन्म होते ही मर जायगा। यह सब कर्म की लीला है। भाग्य में संतान था नहीं, इस लिये नहीं हुआ।

इस प्रकार जैनधर्म में किसी भी कार्य की उत्पत्ति में पांच कारण बताये गये हैं।

—: २८ :—

स्याद्वाद

किसी भी पदार्थ की सिद्धि एकान्तवाद से- एकान्तदृष्टि से नहीं हो सकती। जैनशास्त्र कारों ने पदार्थ मात्र का— 'सत्' का लक्षण बताया है 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त 'सत्'। उत्पत्ति विनाश और स्थिरता— इस स्वभाववाला पदार्थ होता है। छोटे अणु से लगा करके बडे से बडे पदार्थ तक को देख लीजिये, सभी पदार्थों में यह लक्षण रहा हुआ है। और इसीलिये वस्तुमात्र में अनेक धर्म रहे हुए हैं।

'स्याद्वाद' इसमें दो शब्द हैं 'स्याद्+वाद्'। 'स्याद्' का अर्थ होता है 'किसी अपेक्षा से'। यह अनेकान्त का सूचक है। इसीलिए 'स्याद्वाद' का दूसरा नाम 'अनेकान्तवाद' भी है। 'अनेकान्त' में अनेक + अन्त ये दो शब्द हैं। 'अन्त' का अर्थ दृष्टि, दिशा करना चाहिये। मतलब यह हुआ कि किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टिओं से देखना, उसी का नाम है 'स्याद्वाद'; किंवा

अनेकान्तवाद। और सत् का— पदार्थ का— वस्तु का जो लक्षण किया गया है, यह भी यही दिखलाता है कि— प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म रहे हुए हैं। स्याद्वाद की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की जाय तो 'एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वादः'। एक ही पदार्थ में भिन्न २ अपेक्षाओं से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों का स्वीकार करना, उसी का नाम स्याद्वाद।

'स्याद्वाद' सिखाता है कि प्रत्येक वस्तु को जुदी जुदी दृष्टि से देखने से ही उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। उदाहरण लीजिये—एक ही मनुष्य पिता, पुत्र, काका, मामा, भतीजा, भानजा हो सकता है। पिता की अपेक्षा से पुत्र है, पुत्र की अपेक्षा से पिता है। काका की अपेक्षा से भतीजा है, भतीजे की अपेक्षा से काका है। वह नित्य भी है। अनित्य भी है। आत्मा की अपेक्षा से नित्य है। शरीर की अपेक्षा से अनित्य है। मिट्टी का घडा नित्य भी है, अनित्य भी। घडे का जो आकार है, वह विनाशी है-अनित्य है। परन्तु

घडे की मिट्टी अविनाशी कही जायगी । क्योंकि आकार स्वरूप घट का नाश होते हुए भी मिट्टी स्वरूप घडा तो रहता ही है । मिट्टी के आकार किंवा पर्याय बदलते रहेंगे, परन्तु मिट्टी के परमाणु का सर्वथा नाश नहीं होने का है । सोने के किसी आभूषण को तुडवा-गला करके दूसरा बनाया जाय, तो मूल आकार का नाश हुआ, नये आकार की उत्पत्ति हुई, परन्तु सुवर्ण द्रव्य तो स्थित है । इसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ स्थूल रूप से अथवा सूक्ष्म रूप से इस संसार में रहते ही हैं । और उस के नये नये रूपों का प्रादुर्भाव होता है । दीपक शान्त हो जाता है, इससे हम समझते हैं कि दीपक का सर्वथा नाश हुआ, परन्तु वैसा नहीं है, दीपक के प्रमाणु बराबर रहते हैं । दूसरे रूप में रहते हैं, रहते जरूर हैं ।

जिसका उत्पाद और विनाश होता है, उसको जैनशास्त्रों में 'पर्याय' कहते हैं । और जो वस्तु 'स्थायी' रहती है, उसको 'द्रव्य' कहते हैं । 'द्रव्य' रूप से सब पदार्थ 'नित्य' हैं, और 'पर्याय' रूप से अनित्य हैं ।

जो लोग 'स्याद्वाद' को समझते हैं, उनकी दृष्टि में कोई मत का विरोध नहीं हो सकता। 'स्याद्वाद' दृष्टि से प्रत्येक चीज को देखने वाला मनुष्य बड़ा उदारदिल बनता है। उसकी संकुचितताएं सब दूर हो जाती हैं। इस 'स्याद्वाद' किंवा 'अनेकान्तवाद' को कार्य में न लिया जाय, तो 'निश्चयात्मक' रूप से कही हुई बात 'एकान्त' बन जायगी। और एकान्त बात 'सत्य' नहीं हो सकती। 'अमुक मनुष्य बाप ही है'। इसका अर्थ यह होगा कि 'बाप' के सिवाय उसमें दूसरा कोई धर्म ही नहीं है। और यह बिलकुल असत्य है? क्या पिता की अपेक्षा 'पुत्र' वह नहीं है? क्या काका की अपेक्षा भतीजा और भतीजे की अपेक्षा काका नहीं है? क्या वह 'मनुष्य' नहीं है? तब "अमुक मनुष्य बाप ही है" ऐसा कहने की अपेक्षा यदि ऐसा कहा जाय कि:—"अमुक मनुष्य बाप भी है"। कितना बिशाल अर्थ इसमें आजाता है? 'बाप भी है' ऐसा कहने से उसमें सैंकडों 'धर्म' और ला सकते हैं। बस 'ही' और 'भी' में जो अन्तर है, वही अन्तर 'एकान्तवाद' और स्याद्वाद–अनेकान्तवाद में है।

कोई अन्धा मनुष्य हाथी के किसी एक अंग को पकड करके यह मान ले अथवा कहे कि— हाथी ऐसा होता है, तो यह असत्य है। किसी भी वस्तु के एक अंग के स्पर्श करने से उस वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता अथवा सम्पूर्ण अंश में सत्य नहीं माना जासकता।

आज संसार के सभी 'धर्म' वाले अपनी अपनी बात को ही सत्य मान कर दूसरे को 'असत्य' 'झूठा' 'पाखण्ड' धर्म बताने की कोशिश करते हैं, और धर्म के नाम से झगडे करते हैं। परन्तु इस 'स्याद्वाद' शैलिका अभ्यास करके उस दृष्टि से सबको देखें, तो कभी झगडा किंवा वैमनस्य होने का कारण न रहे।

ध्यान में रखना चाहिए कि— 'स्याद्वाद' यह 'संशयवाद' नहीं है। स्याद्वाद क्या चीज है, यह तो साफ २ दिखलाया है। 'संशय' तो उसे कहते हैं जो कोई भी एक बात का निर्णय न करे। अन्धेरे में कोई चीज पडी है, उसको देखकर यह कल्पना करना कि— 'यह रस्सी होगी या सांप?' इसका नाम 'संशय' है।

इसमें 'रस्सी' किंवा 'सांप' किसीका निश्चय नहीं होता। कोई चीज, किसी भी स्वरूप में समझी न जाय, उसका नाम है 'संशय'। 'स्याद्वाद' ऐसा नहीं है। 'स्याद्वाद' तो एक ही वस्तु को भिन्न २ दृष्टि से देखने को कहता है। और इस तरह देखने में एक दृष्टि से जैसा देखता है, वह निश्चित है। कोई मनुष्य पिता है, यह तो नक्की है, परन्तु पिता के अतिरिक्त दूसरे धर्म भी उसमें हैं, यह देखने को 'स्याद्वाद' कहता है। 'संशय' वाद तो न रस्सी का निर्णय कराता है, न सर्प का। इसलिये 'स्याद्वाद' को 'संशय-वाद' कहना सर्वथा भूल है।

: २९ :

नय

जैनधर्म में जैसे 'स्याद्वाद' एक महत्त्व की चीज है, वैसे ही 'नय' भी 'स्याद्वाद' के साथ संबन्ध रखने वाली महत्त्व की चीज है।

'नय' का सामान्य अर्थ है 'विचार'। 'नयवाद' को 'अपेक्षावाद' भी कह सकते हैं। किसी भी वस्तु को सापेक्षारीत्या निरूपण करने वाला विचार, यह है 'नय'। मनुष्य प्रत्येक वस्तु के ऊपर भिन्न २ दृष्टियों से विचार करता है। अपेक्षा पूर्वक किये हुए विचार, वे 'नय' कहे जाते हैं। यद्यपि बहुत से विचारों में विरुद्धता भी दीखती है, परन्तु ऐसे विरोधी देखे जाने वाले विचारों में से अविरोध का मूल खोजने वाला तथा ऐसे विचारों का समन्वय करने वाला शास्त्र, वह है नयशास्त्र।

यह नय कितने ? इसकी संख्या नहीं हो सकती। जैनशास्त्रों में कहा है— "जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति णयवाया" जितने

वचनपद- वचन प्रयोग हैं, उतने नय हैं। क्योंकि अपेक्षापूर्वक मनुष्य जो कुछ वचन निकालता है, वह सब नय है। फिर भी मनुष्य समाज के समझने के लिये उसके जुदे २ भेद दिखलाये गये हैं। जैसे- दो प्रकार के नय— १ द्रव्यार्थिक नय और २ पर्यायार्थिक नय।

संसार की प्रत्येक वस्तु में दो बातें रही हुई है- मूल द्रव्य और उसके पर्याय-विभिन्न स्वरूप। अथवा सामान्य और विशेष। जैसे मनुष्यत्वेन मनुष्य सब समान हैं, परन्तु देश, जाति, रंग, रूप इत्यादि की अपेक्षा से सब में कुछ न कुछ विशेषता है। पानी सब एक है, परन्तु उसमें मीठापन, खारापन, एवं भिन्न २ रंग आदि की अपेक्षा से विशेषता है-विभिन्नता है। आत्मा स्वरूप से सब समान हैं, परन्तु भिन्न शरीरों के धारण किये हुए है, उस अपेक्षा से विशेषता है।

इस सामान्य और विशेष अथवा द्रव्य और पर्याय को लेकर नय के दो भेद दिखलाये हैं:- द्रव्यार्थिक नय और पर्यार्थिक नय। द्रव्य संबन्धी विचार और पर्यायसबन्धी विचार।

आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। मिट्टी का घडा नित्य भी है, अनित्य भी है। ये दोनों एक दृष्टि से नित्य, दूसरी दृष्टि से अनित्य। ये दोनों नय' हैं।

इस प्रकार 'निश्चय नय' और व्यहार नय' ऐसे भी दो भेद हैं। वस्तु के मूलस्वरूप को समझाने वाला विचार वह निश्चय नय है, और आकाशादि परिणाम के स्वरूप को समझाने वाला विचार, यह व्यवहार नय है। निश्चय नय कहता है कि आत्मा शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निराकार, सच्चिदानन्दमय है। व्यवहार नय कहता है कि आत्मा यहां से मर करके देव लोक में गया, नरक में गया, आत्मा सुखी है, आत्मा दुःखी है, आत्मा मोही है वगैरह। दोनों में दृष्टिभेद है। आत्मा के मूलस्वरूप की अपेक्षा से आत्मा नित्य ठीक है। कर्मों के आवरण से युक्त होने की अपेक्षा से मरता है, सुखी है, दुखी है, वह भी ठीक है। इन दो दृष्टिओं की विचार सरणी को दो नय- निश्चय नय और व्यवहार नय कहते हैं। इस प्रकार समस्त बातों में समझ लेना चाहिए।

इस प्रकार जैनशास्त्रों में सात प्रकार के 'नय' भी कहे हैं ।-

१ नैगमनय २ संग्रहनय, ३ व्यवहारनय, ४ ऋजुसूत्रनय, ५ शब्दनय, ६ समभिरूढनय, ७ एवंभूतनय । अब इस में से प्रत्येक नय सम्बन्धी मय उदाहरण के विचार करें ।

१ नैगमनय—लौकिक रूढी और लौकिक संस्कार के अनुसरण में जो विचार उद्भवता है, वह नैगमनय है ।

इसके तीन भेद किये जा सकते हैं- भूतनैगम, वर्त्तमाननैगम और भविष्यत्नैगम ।

जो बात हो चुकी है, उसका वर्त्तमान काल में व्यवहार किया जाय, वह भूतनैगम है । जैसे चैत्रसुदि १३ के दिन को लोग कहते हैं कि 'आज महावीर भगवान् का जन्म दिन है,' यह नैगमनय की अपेक्षा से बोला जाता है ।

वर्तमान समय में किसी कार्य के लिये क्रिया का प्रारंभ किया जाय, तोभी कहा जाय कि- मैं अमुक कार्य करता हूं । रसोई के लिये

लकड़ियां आदमी इकट्ठी करता है, परन्तु पूछने पर कहेगा कि- 'रसोई करता हूं।' यद्यपि रसोई का कार्य शुरू नहीं हुआ, फिर भी इस में नैगमनय की दृष्टि से ऐसा कह सकते हैं।

जो चीज होने वाली है, उसको भी 'हुई' ऐसा कहना, उसको भविष्यद् नैगम कहते हैं। जैसे रसोई पूरी नहीं हो गयी है, परन्तु कह देना कि—रसोई हुई। यह भविष्यद् नैगमनय की दृष्टि है।

उपर्युक्त उदाहरणों से मालूम होता है कि—नैगमनय लोकरूढी पर आधार रखता है। लोकरूढी में जैसी भाषा प्रचलित होती है, वह भी इस 'नैगमनय' की अपेक्षा से सत्य है।

संग्रहनय— भिन्न भिन्न प्रकार की वस्तुओं अथवा अनेक व्यक्तिओं को किसी एक वस्तु का आश्रय लेकर के समुच्चयरूप से व्यवहार करना, यह संग्रहनय की दृष्टि से होता है।

जैसे— कोई कहे कि 'एक आत्मा' है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा भिन्न भिन्न है,

परन्तु आत्मजाति का आश्रय लेकरके कोई यह कहे कि 'एक आत्मा' है, तो वह 'संग्रहनय' की अपेक्षा से सत्य है। भिन्न भिन्न जाति के कपडे होते हुए भी कपडे की जाति को लक्ष्य में लेकर कहा जाय कि--'यहां कपडे ही हैं' तो वह भी संग्रहनय की अपेक्षा से है।

३ व्यवहारनय--सामान्य रूप से जो बात कही जाय, उसका पृथक्करण न किया जाय, वहां तक विशेष ज्ञान नहीं होता है। इसलिये सामान्यरूप से कहा हुई बात को पृथक् २ रूप विचार, वह 'व्यवहार नय' है। अनेक जाति के कपडों को समुच्चय रूप से कपडे के शब्द से व्यवहार किया, परन्तु यह रेशमी कपडा, यह मील का कपडा, यह खादी का कपडा, इस प्रकार का उच्चारण यह 'व्यवहार नय' की अपेक्षा से किया जाता है। संसार के सारे पदार्थ को एक शब्द से समुच्चयरूप से 'वस्तु' 'चीज' इस शब्द से कहा जाता है। परन्तु पृथक्करण करके कहना हो कि यह जड है, यह चेतन है, यह पृथ्वी है, यह पानी है, वगैरह व्यवहार इस नय से कहा जाता है।

४ ऋजुसूत्रनय—प्रत्येक वस्तु के वर्त्तमान अवस्था पर ही विचार किया जाय, यह ऋजुसूत्र नय है।

यद्यपि मनुष्य किसी वस्तु को देख कर उसकी भूत और भविष्यकाल की अवस्था को भूल नहीं सकता, तथापि मनुष्य की बुद्धि तात्कालिक अवस्था के ऊपर विशेष स्थिर होती है, और जैसी अवस्था वर्त्तमान में मालूम होती है, उसी के अनुसार विचार किंवा शब्दव्यवहार होता है। और उसी अवस्था के स्वरूप को सत्य समझता है। लकड़ी के मेज को देखकर वह मेज ही का विचार करता है, यह ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से है। यद्यपि मेज की भूतकालीन लकडी की अवस्था और भविष्यकालीन कुछ न कुछ अवस्था है। परन्तु वर्त्तमान अवस्था मेज ही कार्यसाधक होने से उसको ही यह 'नय' स्पर्श करता है।

५ शब्दनय—काल, लिंग, वगैरह के भेद से जो अर्थ भेद बतावे वह शब्दनय है। अर्थात् जो विचार शाब्दिक प्रधान बन करके, अर्थभेद की कल्पना करे, वह शब्दनय है।

किसी लेखकने लिखा हो "पाटलीपुत्र नामक नगर था।" अब इसमें सोचना यह है कि यद्यपि लेखक के समय में भी 'पाटली पुत्र' नगर अवश्य है, और इसलिये 'था' क्रियापद के स्थान में 'है' ऐसा लिखना चाहिये था। परन्तु 'था'—भूतकालीन प्रयोग करने का प्रयोजन यह है कि इस समय जो पाटलीपुत्र है, उससे उस समय का पाटलीपुत्र कुछ और ही था। इस प्रकार 'शब्द' के प्रयोग करने में काल भेद रक्खा। इसीलिये उसका अर्थभेद मालूम हुआ। यह विचारणा शब्दनय के परिणाम से है। अर्थात् शब्दनय की अपेक्षा से ऐसा कथन सत्य है। एक बहुत बड़े खड्डे में पानी हो, उसको कूंआ कहते हैं। लेकिन किसी लेखक ने 'कूंई' लिखा। 'कूंआ' 'कूंई' ये लिंग भेद के शब्द हैं।

६ समभिरूढनय— पर्यायवाची शब्दों के भेद से अर्थभेद की मान्यता रखने वाला विचार यह समभिरूढ नय है। जैसे शब्दभेद, वैसे व्युत्पत्ति भेद भी अर्थभेद की तरफ ले जाता है। स्पष्टार्थ यह है कि जहां भिन्न २ शब्दों का एक अर्थ माना जाता है, वहां भी तत्त्वदृष्टि से देखा

जाय तो उन सब शब्दों की व्युत्पत्ति से एक अर्थ नहीं होता। उदाहरण लीजिये— राजा, नृप, भूपति ये तीनों 'राजा' वाचक हैं, परन्तु 'समभिरूढ नय' कहता है कि ऐसा नहीं है। राज चिन्हों से जो शोभे, वह राजा। मनुष्यों का रक्षण करे वह नृप और पृथ्वी का पालन करे, वह भूपति। व्यवहार में इन तीनों शब्दों का अर्थ 'राजा' करते हुए भी समभिरूढ नय की अपेक्षा से-व्युत्पत्ति से तीनों शब्द भिन्न अर्थ सूचक हैं।

७ एवंभूतनय— जो अर्थ शब्द से फलित होता हो— अर्थात् व्युत्पत्ति के अनुसार ही उस पदार्थ का व्यवहार होता हो, तब ही उस वस्तु को उस अर्थ में स्वीकारना, यह एवंभूतनय का काम है।

अर्थात्—इस नय की अपेक्षा से तो, जिस समय राजा राजचिन्ह से शोभित होता हो उसी समय 'राजा' कहना चाहिए अर्थात् उसी समय वह 'राजा' है। दूसरे समय में नहीं। जिस समय मनुष्य का रक्षण किया जाता हो,

उसी समय में वह 'नृप' कहा जा सकता है, दूसरे समय में नहीं। इसी प्रकार, जिस समय, कोई मनुष्य सेवा का कार्य कर रहा हो, उसी समय, उतने ही समय के लिये वह 'सेवक' कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। यह एवंभूतनय की विचार सरणी है।

संसार के मनुष्यों में परस्पर झगडा कब होता है? मतभिन्नताओं के कारण विरोध कब जाग्रत होता है? जब मनुष्य एक दूसरे के कथन को अपेक्षा से नहीं देखता है। दूसरा मनुष्य जो बोलता है, वह भी किसी 'नय' की अपेक्षा से ठीक है, यह बुद्धि मनुष्य समाज में आजाय, तो कभी किसी में वैमनस्य होने की जरूरत ही न रहे। जैनधर्म में दिखलाई हुई इन नयों की मान्यता मनुष्य को बहुत बडे विशालक्षेत्र में ला रखती है। एक ऊंचे शिखर पर चढा करके जगत् का अवलोकन कराने को सिखाती है।

इसको नयदृष्टि कहो, विचारसरणी कहो, चाहे सापेक्ष अभिप्राय कहो— एकही बात है।

ऊपर के उदाहरणों के साथ दिखलाये हुए सातों नयों में उत्तरोत्तर एक पीछे एक में अधिकाधिक सूक्ष्मता आती जाती है।

जैनधर्म का मूल सिद्धान्त राग-द्वेष को मिटाने का है। इस प्रकार की नयदृष्टि का अभ्यास, और उसी दृष्टि से संसार के प्रत्येक वस्तु का अवलोकन, हमारे राग-द्वेषों को कम करने में सहायभूत होता है।

—: ३० :—

सप्तभंगी

जैन धर्म में पदार्थों का ज्ञान करने के लिये जसे 'स्याद्वाद' और 'नय' का सिद्धान्त है, वैसे ही सप्तभंगी का भी सिद्धान्त है।

'सप्तभंगी' का सामान्य अर्थ है- वचन के सात प्रकारों का समूह। किसी भी पदार्थ के लिये अपेक्षा को लक्ष्य में रखते हुए, सात प्रकार से वचनों का उच्चारण किया जा सकता है १ 'है'

२ 'नहीं है' ३ 'है और नहीं है' ४ 'कहा नहीं जा सकता' ५ 'है, परन्तु कहा नहीं जा सकता' ६ 'नहीं है, परन्तु कहा नहीं जा सकता ७ 'है और नहीं है, तो भी कहा नहीं जा सकता'।

किसी में विरोध न आवे, उस प्रकार की कल्पना करना, उसका नाम है सप्तभंगी।

किसी भी चीज का कोई भी धर्म दिखलाना हो, तो वह इस प्रकार दिखलाना चाहिए, जिससे उससे विरोधी धर्म का स्थान उस वस्तु में से चला न जाय। किसी चीज को 'नित्य' दिखलाना है, परन्तु कोई ऐसा शब्द रख करके 'नित्य' दिखलाना चाहिए, जिससे उसमें रहे हुए 'अनित्यता' के धर्म का अभाव न मालूम हो। एसा शब्द है 'स्यात्'। 'स्यात्' शब्द का अर्थ होता है 'अमुक अपेक्षा से'। अर्थात् 'कथंचित'—'किसी अपेक्षा से'। जैसे 'स्याद् नित्य एव घटः' इसका अर्थ हुआ कि 'घट किसी अपेक्षा से नित्य है'। यहां 'किसी अपेक्षा से' कहने से स्पष्ट मालूम होता है कि और किसी अपेक्षा से 'अनित्य' भी होना चाहिए।

अब इस 'घट' के उदाहरण के ऊपर सातों वचन प्रयोग घटाये जांय।

१ स्याद् नित्य एव घटः।

२ स्याद् अनित्य एव घटः।

३ स्याद् नित्यानित्य एव घटः।

४ स्याद् अवक्तव्य एव घटः।

५ स्याद् नित्यः अवक्तव्यश्च घटः।

६ स्याद् अनित्यः अवक्तव्यश्च घटः।

७ स्याद् नित्यानित्यश्च अवक्तव्यो घटः।

इन सात भंगों से (वचन प्रयोगों से) आठवां भंग नहीं हो सकता।

उपर्युक्त सातों वचन प्रयोगों का मतलब देखिये—

१ 'घट' नित्य है, परन्तु किसी अपेक्षा से नित्य भी है।

२ 'घट' अनित्य है, परन्तु किसी अपेक्षा से नित्य भी है।

३ घट किसी अपेक्षा से नित्य भी है और किसी अपेक्षा से अनित्य भी है।

४ 'नित्य' और 'अनित्य' ऐसे जुदे २ शब्दों द्वारा तो कहा जा सकता है परन्तु एक ही शब्द से दोनों धर्मों का समावेश करना हो तो

इसके लिये जैनशास्त्रों में 'अवक्तव्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात् घट किसी अपेक्षा से 'अवक्तव्य' भी है।

उपर्युक्त चार वचन प्रयोगों पर से पिछले तीन वचन प्रयोग बनाये जाते हैं।

५ किसी अपेक्षा से घट 'नित्य' होने के साथ अवक्तव्य है।

६ किसी अपेक्षा से घट 'अनित्य' होने के साथ अवक्तव्य है।

७ किसी अपेक्षा से घट नित्य और अनित्य होने के साथ अवक्तव्य है।

पिछले तीन वचन प्रयोग वक्तव्यरूप नित्य, अनित्य और नित्यानित्य इन तीन भंगों के साथ अवक्तव्य मिलने से होते हैं।

ध्यान में रखना चाहिए कि व्यवहार एक चीज है, और तात्त्विकता दूसरी चीज है। सप्तभंगी के नियमानुसार सातप्रकार के वचन प्रयोग यह व्यावहारिक बात नहीं है। यह तो एक तात्त्विक विषय है। एक ही बात के लिये कितने वचन प्रयोग किये जा सकते हैं, यह तत्त्वदृष्टि से विद्वानों के लिये विचारने योग्य यह विषय है। सामान्यतः व्यवहार में ये बातें काम में नहीं आतीं।